विज्ञप्तित्रिवेणिः ।





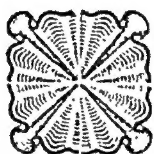


सम्पादक—

मुनि जिनविजय ।



प्रकाशक—
गांधी वल्लभदास त्रिभुवनदास
सेक्रेटरी-जैन आत्मानन्द सभा।
(भावनगर)



मुद्रक—
छोटालाल लालभाई पटेल.
लक्ष्मीविलास-प्रेस।
भाउकाले की गली बडौदा।
(२२-९-१९१६)

प्रवर्तककान्तिविजयजैनइतिहासमाला-प्रथम पुष्प।

अर्हम्

विज्ञप्तित्रिवेणिः।

(एक विस्तृत संस्कृत ऐतिहासिक पत्र।)

सम्पादक-

मुनिजिनविजय।

प्रकाशक-

जैनआत्मानन्द सभा

भावनगर।

(प्रथमावृत्ति–५०० प्रति.)

वीर संवत् २४४२.

इस्वी सन् १९१६.



(मूल्य सादीका ॥=)

(पक्की जिल्दका १।)

धन्यवाद्।

प्रवर्त्तक श्रीमत्कांतिविजयजी महाराज के

विद्वान् शिष्य मुनि महाराज श्रीचतुर-

विजयजी के सदुपदेशसे

बडौदे वाले

जौंहरी शेठ मोतिलाल गुलाबचंदकी

विधवा पत्नी धर्मात्मा सुश्राविका

विजळीबाईने

इस पुस्तक के छपवाने में द्रव्यसंबंधी उदार

मदत दी है इस लिये उन को धन्यवाद

दिया जाता है।

जैनआत्मानंदसभा।





विषय.	पृष्ठ.
प्रस्तावना।	

संशोधन ।

प्रस्तावना के २२ वें पृष्ठ की नोटमें ' अणकी-टणकी ' के विषयमें लिखा गया है कि " यह......कहां पर है इसका पता नहीं लगा।" परंतु पीछे से तलायस करने पर मालूम हुआ, कि यह स्थान बंबई इलाखा के नासिक जिल्हे में है। इलुरा की तरह वहां भी कुछ जैन गुहा-मंदिर हैं, जिन में शान्तिनाथ और पार्श्वनाथ तीर्थंकर की मुख्य मूर्तियें सुशोभित हैं। डॉ. फरग्युसन (Fergusson) ने अपनी " दी केवे टेम्पल्स ऑव इन्डीया (THE CAVE TEMPLES OF INDIA के ५०५-७ पृष्ठ पर इन गुहा-मंदिरों का हाल लिखा है। गेजेटियर ऑव बॉम्बे प्रेसीडेन्सी (Gazetteer of Bombay Presidency) " के १६ वें भाग के पृष्ठ ४२३-४ परभी इस स्थान का संक्षिप्त जिक्र किया गया है।

चित्रसित्रिवेणि की हस्तलिखित प्रति का अंतिम पत्र।

प्रस्तावना।





पाठकों के हाथ में जो पुस्तक विद्यमान है इस में कोई किसी प्रकार के शास्त्रीय या सामाजिक विषय का वर्णन नहीं है परन्तु लगभग ५ सौ वर्ष पहले, उपाध्यायपद-धारक एक विद्वान् जैन-यति की ओर से, गच्छाधिपति आचार्य के पास, उन की आज्ञा और इच्छानुसार एक विशेष-प्रसंग संबंधी लिखा हुआ वृत्तान्त है। अत एव यह कोई ग्रंथ नहीं है परन्तु अलंकृत रूप से लिखा हुआ विस्तृत संस्कृत पत्र है।

पर्युषणा-पर्व और विज्ञप्ति-पत्र।

जैन धर्म में पर्युषणापर्व बडा महत्त्ववाला गिना जाता है। यह पर्व भादों मास में आता है और भादों वदि (गुजरात के हिसाब से श्रावण वदि) १२ से ले कर भादों सुदि ४ पर्यंत के ८ दिन तक यह मनाया जाता है। इन आठ दिनों में जैन लोक किसी भी प्रकार का सांसारिक कार्य नहीं करते। केवल शास्त्र के वाचन-श्रवण में और तपश्चरणादि आत्मोद्धारक पुण्यकार्यों के करने में ये दिन बिताये जाते हैं। इस अष्टाह्निक पर्वका अंतिम दिन जो सांवत्सरिक के नाम से प्रसिद्ध है, यह इन आठ दिनों में भी सब से पवित्र और महान् माना जाता है। इस दिन तो छोटे से ले कर वृद्ध पर्यंत के सभी श्रद्धालु और भावुक लोक अन्न-जल का भी त्याग कर देते हैं। और केवल आत्मतत्त्वचिन्तन के सिवा किसी प्रकार का आलापसंलाप तक भी नहीं करते। जैनशास्त्रों में लिखा है कि इस सांवत्सरिक दिन के सायंकाल समय में, हर एक जैन को, वर्षभर में किये हुए सुकृत्यों का अनुमोदन और दुष्कर्मों का आलोचन कर विशुद्ध-परिणामी

वनना चाहिए। इस के अतिरिक्त निर्विपमनस्क हो कर, संसार-भर के सभी प्राणियों के साथ, मानसिक, वाचिक और कायिक रूप से अपने किये हुए अपराधों की क्षमापना करनी चाहिए। अर्थात् वर्ष भर में किसी के भी साथ जो कुछ वैर-विरोध किया कराया हो उसे भूला देना चाहिए और स्वकृत अपराध की क्षमा मांगनी चाहिए। दूसरे मनुष्यने अपने साथ जो बुरा वर्ताव किया हो उसे भी विस्मरण कर सरल-हृदयी वनना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार सांवत्सरिक-पर्व के दिन वैर का विस्मरण नहीं करता और निर्विपमनस्क नहीं वनता वह अर्हत् की आज्ञा का आराधक नहीं गिना जाता। श्रमण भगवान् श्रीमहावीरदेव की इस पवित्र आज्ञा का पालन, उन के धर्मानुयायी, अपनी अपनी धार्मिक-योग्यतानुसार, प्राचीन काल से करते आये हैं।

जैनों के लिये यह पर्व, क्रिश्चियनों के वडे दिन और पारसियों के पटेटी दिन के जैसा उत्सव रूप और आनन्दप्रद है। इस पर्व के वाद सभी जैन अपने अपने परिचित धर्मवन्धुओं और धर्म-गुरुओं को क्षमापना पत्र लिखते हैं और स्वकृत अविनय की नम्रता पूर्वक क्षमा मांगते हैं।

पूर्वकाल में डाँक का प्रवंध न होने से आज की तरह, हर एक मनुष्य, इस प्रकार के पत्र नहीं लिख सकता था तो भी गाँव के समस्त-संघ की ओर से एक ऐसा पत्र, दूसरे परिचित गाँव के संघ प्रति अवश्य लिखा जाता था।

जैनधर्म में, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकारूप जो चतुर्विध-संघ कहा जाता है, उस में सव से वड़ा दर्जा आचार्य का है। संघ के स्वामी आचार्य गिने जाते हैं। आचार्य का मान संघ में उतना होता है, जितना एक राजा का अपने राज्य में हुआ करता है। इस लिये आचार्य के पास, जहां जहां उन के गच्छानुयायी और शिष्यादि होते थे उन सव स्थानों के संघों की तरफ से ऐसे क्षमापना विषयक पत्र खास तौर पर भेजे जाते थे। इन पत्रों में, साँवत्सरिक-क्षमापना के सिवा पर्युषणा के दिनों में

अपने गाँव में जो जो धार्मिक कार्य होते थे उन का भी उल्लेख, आचार्य को ज्ञात करने के लिये किया जाता था। साथ में आचार्य को अपने गाँव में आने के लिये और संघ को दर्शन देने के लिये बडी खूबी के साथ विस्तार पूर्वक विज्ञप्ति (प्रार्थना) भी की जाती थी। इसी विज्ञप्ति के कारण इन पत्रों को विशेष कर "विज्ञप्ति-पत्र" कहा करते थे।

विज्ञप्तिपत्र का स्वरूप।

विज्ञप्ति-पत्र खास देखने और वर्णन करने लायक हुआ करते थे। इन के लिखने में बहुत सा खर्च और समय लगता था। इन का आकार ज्योतिषी की बनाई हुई जन्मपत्री के जैसा हुआ करता था। मजबूत और मोटे कागज़ों के १०-१२ इंच के चौडे टुकडे बना बना कर फिर उन्हें एक दूसरे के साथ सांध देते थे और इस प्रकार कागज़ का एक लंबा पत्र (बंडल) बनाया जाता था। (मेरे देखने में जितने पत्र आये हैं उन में कोई कोई ६० फीट जितने लंबे हैं।) इन पत्रों में, प्रारंभ में, बहुत से चित्र चित्रित किये जाते थे। किसी किसी पत्रके चित्र तो बडे ही अच्छे सुंदर और आकर्षक दृष्टिगोचर होते हैं। चित्र भिन्न भिन्न दृश्यों के आलेखित किये जाते थे। सब से प्रथम, बहुत कर के कुंभकलश और अष्टमंगल तथा चौदह महा-स्वप्न (जो तीर्थंकर की मातायें देखतीं हैं) चित्रित किये जाते थे। फिर, राजा-बादशाहों के महल, नगर के बाजार, भिन्न भिन्न धर्मों के देवालय और धर्म-स्थान (मुसलमानों की मस्जीदें भी), कुंआ, तालाब और नदी आदि जलाशय, नट और बाजीगरादिकों के खेल, गणिकाओं के नृत्य इत्यादि सब प्रकार के दृश्यों का आलेखन किया जाता था। पर्युषणा के दिनों में जैनसमाज के जो धार्मिक-जुलूस निकला करते हैं और जिन में श्रावक-समुदाय के साथ साधुजन भी रहा करते हैं, उस भाव को ले कर भी कितने ही चित्र लिखे जाते थे। साथ में जिन आचार्य के पास वह विज्ञप्ति-पत्र भेजा जाता था उन की व्याख्यान-सभा का चित्र भी दिया जाता था। इस प्रकार,

लगभग पत्र का आधा भाग तो चित्रों से अलंकृत किया जाता था। बाद में, अच्छे लेखक के पास सुंदर अक्षरों में लेख-प्रबंध लिखाया जाता था जो किसी विद्वान् साधु या श्रावक का बनाया हुआ होता था।

वर्णन-विभाग।

चित्र-विभाग की तरह वर्णन-विभाग भी नाना प्रकार के वर्णनों से भरा हुआ होता था। यह वर्णन संस्कृत और प्राकृत (प्रचलित देशभाषा) दोनों प्रकार की भाषाओं से मिश्रित हो कर कुछ पद्य में और कुछ गद्य में लिखा जाता था। वर्णन-क्रम बहुत कर के इस प्रकार रहता था। आदि में तीर्थंकर देव संबंधी स्तुति-पद्य, फिर जिस देश और गाँव में आचार्य विराजमान होते उस का आलंकारिक रूप से विस्तृत वर्णन, आचार्य के गुणों की प्रभूत-प्रशंसा, उन की सेवा उपासना करने वाले श्रावक-समूह के सौभाग्य का निरूपण, आचार्य के दर्शन करने की स्वकीय उत्कंठा का उद्‌घाटन, पर्युषणापर्व का आगमन और उस में बने हुए निज के गाँव के धर्मकृत्यों का उल्लेख, सांवत्सरिक दिन का विधिपूर्वक किया गया आराधन और स्वकृत अपराध के लिये आचार्य से क्षमा याचन; इत्यादि बातों का बहुत अच्छा और क्रम-पूर्वक उल्लेख किया जाता था। अंत में आचार्य को अपने क्षेत्र में पधारने के लिये विस्तार-पूर्वक नम्र विज्ञप्ति (प्रार्थना) की जाती थी और स्थानिक-संघ के अग्रगण्य श्रावकों के हस्ताक्षर-पूर्वक पत्र की समाप्ति की जाती थी। इन पत्रों में धार्मिक इतिहास के सिवा राजकीय ऐतिहासिक बातें भी कितनीक रहती थीं जो प्रसंगानुसार लिख दी जाती थीं।

मुनियों के विज्ञप्ति-लेख।

जिस तरह श्रावकों की तरफ से आचार्य के पास विज्ञप्ति-पत्र भेजे जाते थे वैसे मुनियों की ओर से भी गच्छपति की सेवा में स्वतंत्र विज्ञप्ति-लेख लिखे जाते थे। मुनिजन प्रायः करके अपने पत्र,

अपने ही हाथ से लिख कर भेजा करते थे अतः उन के पत्रों में, गृहस्थों के से चित्रादि नहीं होते थे। मुनियों के पत्र बाह्य सौन्दर्य से शून्य होने पर भी आन्तरिक गुणों के कारण विशेष महत्त्व वाले होते थे। पुराणे पुस्तक-भाण्डागारों में, खोज करने पर ऐसे पत्र बहुतायत से मिल सकते हैं परन्तु इन के वास्तविक स्वरूप से अभी तक कोई परिचित न हो सकने के कारण ये यों ही भाण्डारों में पडे पडे सड रहे हैं और नष्ट हो रहे हैं। साहित्य-रसिक प्रवर्तक श्रीमत्कांतिविजयजी महाराज-जो पाटन के प्रसिद्ध भाण्डारों के उद्धार कर्ता हैं-ने अपने विशाल-शास्त्र-संग्रह में ऐसे अनेक पत्रों का संग्रह किया है और मुझे उन्हें देखने तथा प्रकट करने की आज्ञा दी है।

मुनियों के पत्र विशेष कर विद्वानों के लिये ही मनोरंजक और अवलोकनीय हुआ करते हैं। क्यों कि एक तो इन की रचना संस्कृत या प्राकृत (मागधी) में है और दूसरी बात यह है कि इन का लेख प्रौढ और काव्य की तरह आलंकारिक है। मुझे मिले हुए पत्रों में से बहुत से तो बडे पाण्डित्यपूर्ण हैं। पूर्व के साधु-यति बडे बडे विद्वान् हुआ करते थे; इस लिये वे अपने निवृति के समय में इस प्रकार का विद्या-विनोद किया करते और अपने गच्छपति के पास, पर्युषणादि जैसे विशेष प्रसंगों पर, ऐसे विज्ञप्ति-लेख लिख कर, अपना भक्तिभाव कहो या बुद्धि का वैभव कहो, प्रकट किया करते थे।

मुझे मिले हुए पत्रों में से बहुत से पत्र, तपागच्छ के अंतिम प्रभावक और प्रतिष्ठावान् श्रीविजयदेव, विजयसिंह और विजयप्रभ नाम के आचार्य-जो विक्रम संवत् १६५० से १७५० के बीच में विद्यमान थे—के समीप भेजे गये थे। इन के लेखक पं. श्रीलाभविजय, नयविजय, अमरचंद्र, महोपाध्याय विनीतविजय, विनयविजय, मेघविजय और रविवर्द्धन जैसे प्रवर पंडित और प्रसिद्ध ग्रंथकार हैं। कई पत्र तो ऐसे हैं जिन्हें यथार्थ में खण्डकाव्य या लघुकाव्य कहना चाहिए। किसी किसी पत्र में तो महाकाव्यों के सर्गों की तरह, जुदा जुदा विषयों के प्रकरण पाडे हुए हैं। इन

प्रकरणों में नाना जाति के छंद तथा यमक, अनुप्रास और चित्रादि विविध अलंकारों का समावेश किया गया है। कोई पत्र कवि कुलगुरु कालिदास के मनोहर काव्य मेघदूत की छाया ले कर बनाया गया है तो कोई उस की पादपूर्ति ले कर लिखा गया है। ये पत्र इतने वडे हैं कि उन में से एक को भी यहां पर पूर्ण तया उद्धृत नहीं कर सकता तथापि पाठकों के अवलोकनार्थ एक-दो पत्रों के कुछ कुछ अंशों के देने का लोभ, मैं संवरण नहीं कर सकता। विज्ञ-वाचक इतने ही से, इन पत्रों के वास्तविक स्वरूप से ज्ञात हो सकेंगे।

महोपाध्याय श्रीविनयविजयजी का इन्दुदूत।

वाचक श्रीविनयविजयजी वहुत अच्छे विद्वान् हो गये हैं। ये सुप्रसिद्ध जैन-नैयायिक श्रीयशोविजयजी के समकालीन और सहाध्यायी थे। इन्हों ने लोकप्रकाश, कल्पसुवोधिका और विस्तृत वृत्तिसहित हैमलघुप्रक्रिया आदि अनेक वडे ग्रंथोंकी रचना की है। ये एक समय अपने वहुत से शिष्यों के साथ मारवाड के जोधपुर नामक सहर में चातुर्मास रहे हुए थे। थोडे ही दिनों के वाद, जैनधर्म का परम पवित्र पर्युषणापर्व आ उपस्थित हुआ। चतुर्विध संघ के साथ उपाध्यायजीने पर्वाराधन कर महावीरदेव की आज्ञा का पालन किया। पर्युषणापर्व के समाप्त हुए वाद भिन्न भिन्न स्थानों पर से क्षमापना के पत्र आने जाने लगे। उपाध्यायजी भी अपने आचार्य के पास विज्ञप्ति-लेख भेजने का विचार करने लगे। जो उच्चपंक्ति के विद्वान् होते थे वे अपने विज्ञप्ति-लेख प्रति-वर्ष एक ही जैसे न लिख कर भिन्न भिन्न ढँग से लिखा करते थे। वाचक श्रीविनयविजयजी भी इस वर्ष के विज्ञप्तिपत्र का कोई नया ढँग सोच रहे थे कि इतने में, भादों सुदी पूर्णिमा की रात्रि को, उपाश्रय की छत ऊपर से पूर्वदिशा तरफ, पर्वत के शिखर ऊपर, पूर्णचंद्र देख पडा। रजनीनाथ हिमरश्मि के नयनानंदकर विंव को देख कर कवि के हृदय में नाना प्रकार के कल्पना-तरंग ऊठने लगे। इन तरंगों को मूर्त और स्थायि रूप देने के

विचार से कवि किसी रमणीय-विषय को, काव्यरूप में गूंथन करने के लिये, ढूंढने लगा। विचार करते करते विज्ञप्ति का स्मरण हो आया। चंद्र को दूत बना कर, उस के द्वारा अपने विज्ञप्तिरूप संदेश को गच्छपति की सेवा में भेजने की कल्पना, कवि को बहुत ही रमणीय और उत्तम मालूम दी और तदनुसार, कालिदास के मेघदूत का अनुकरण करने वाला १३१ पद्यों का "इन्दुदूत" नाम का यह खण्ड-काव्य लिख डाला। जिन आचार्य के पास यह विज्ञप्ति भेजने की थी वे उस समय गुजरात के सुरत सहर में विराजमान थे*। इस लिये कवि ने अपने दूत-इन्दु-को गन्तव्य-स्थान सुरत बताया। उपाध्यायजी गुजरात, काठियावाड और राजपूताना में अच्छी तरह विचरे थे इस लिये उन्हें रास्ते का ठीक ठीक हाल मालूम था। जोधपुर से सुरत तक के बीच में, सीधे रास्ते पर, निम्न लिखित प्रसिद्ध स्थलों और स्थानों के देखने का लोभ, चंद्र को दिखा कर कवि ने अपने मार्गज्ञान का सूचन किया है। कवि ने चंद्र प्रति कहा है, कि यहां से (जोधपुर से) दक्षिण की ओर चलते हुए प्रथम सुवर्णाचल (कंचनगिरि)-जो जालोर के पास है-आता है। उस के बाद सीरोही और आबूपहाड, वहां से सरस्वती के किनारे ऊपर का सिद्धपुर और फिर साबरमती के तट पर बसा हुआ गुजरात का राजनगर (अहमदाबाद) आता है। अहमदाबाद के बाद लाटदेश का भूषणरूप बडौदा, नर्मदातटवर्ती भरूच और फिर तापी के तीर पर बसा हुआ सुरत मिलता है। पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा, कि जोधपुर से सीधे सुरत जाने का रेल-रास्ता भी आज वही है जो ढाई सौ पौने तीन सौ वर्ष पहले श्रीविनयविजयजी उपाध्याय ने अपने कल्पित दूत को बताया था। इस काव्य में, काव्य की दृष्टि से देशविरुद्ध का एक उल्लेखनीय दोष अवश्य है; क्यों कि जोधपुर से सुरत पश्चिम दिशा में न हो कर दक्षिण दिशा में है इस लिये चंद्र के उक्त स्थानों पर हो कर जाने की जो कल्पना की गई है उस का होना सर्वथा असंभव है,

* इन्दुदूत में कहीं पर भी आचार्य के नाम का स्पष्ट-उल्लेख नहीं किया गया है परंतु अन्यान्य साधनों से ज्ञात होता है कि ये आचार्य श्रीविजयप्रभसूरि थे।

अत एव कवि का यह कथन देशविरुद्ध होने से दुष्ट गिना जाता है। तथापि, जिस प्रकार कविकुलतिलक कालिदास ने धूम, अग्नि, पाणि और पवन के समुदाय स्वरूप मेघ में, प्राणियों द्वारा पहुंचाने लायक संदेश के पहुंचाने की शक्ति का अभाव जान कर, लोकों की उद्भत शंका को दूर करने के लिये

" कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु । "

लिख कर अपने कथन को युक्ति-संगत बतलाया है और उसे सभी ने स्वीकार भी किया है वैसे गुरुदेव के चरण कमलों में नमन करने की उत्कंठा वाले और स्थितिपरवशता के निमित्त अपना अभिलाष पूर्ण न कर सकने के कारण विह्वल हृदय वाले कवि का यह असंगत कथन भी विद्वानों को क्षंतव्य होना चाहिये। +

अब मैं इस 'इन्दुदूत[1]' के थोडे से पद्य यहां पर उद्धृत करता हूं जिस से पाठकों को उस की रचना और शैली आदि का ज्ञान हो जायँ। इस का प्रारंभ कवि इस प्रकार करता है—

स्वस्ति श्रीणां भवनमवनीकान्तपङ्क्तिप्रणम्यं
प्रौढप्रीत्या परमपुरुषं पार्श्वनाथं प्रणम्य ।
श्रीपूज्यानां गुरुगुणवतामिन्दुदूतप्रभूतो–
दन्तं लेखं लिखति विनयो लेखलेखानतानाम् ॥ १ ॥

+ काव्यालंकार के रचयिता पुराण विद्वान् भामह ने अपने काव्यालंकार के प्रथम परिच्छेद में इस प्रकार के निर्जीव अथवा अशक्त प्राणियों को दूतादि बना कर भेजना ' अयुक्तिमद् ' बतला कर भी अन्त में—

यदि चोत्कण्ठया तत् तदुन्मत्त इव भाषते ।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते ॥

यह कह कर, सुविद्वानों की ऐसी कृतियों तरफ उपेक्षादृष्टि की है।

१ यह प्रबन्ध बंबइ के, निर्णयसागर प्रेस की, काव्यमाला के चौदह वें गुच्छक में छपा है परंतु बहुत अशुद्ध और अव्यवस्थित है।

दूसरे काव्य से ले कर सातवें काव्य पर्यंत-(६) पद्यों में-जोधपुर-नगर का वर्णन है—

यत्र व्योमव्यतिगशिखरेष्वर्हतां मन्दिरेषु
मूर्तीर्जैनीर्नयनसुभगाश्चन्द्रशालानिविष्टाः ।
दर्शं दर्शं विनयविनतोऽघोविमानावतार-
क्लेशं नासादयति निकरो ह्यविद्याधराणाम् ॥ २ ॥

* * * * * * *

स्थास्नुः शुण्डायुध इव मदारकुण्डलीकृत्य दन्तौ
कल्लोद्यानावुपलरचितो यत्र हस्त्यद्रिशृङ्गे ।
स्वर्गं जेतुं नभसि रभसादारुरुक्षोरमुष्य
शृङ्गस्येव स्फुटयति महाधीरनासीरभावम् ॥ ७ ॥

आठवें और नववें काव्य में भाद्रपद की पूर्णिमा की रात्रि में चंद्र के देखने और उस का स्वागत करने का उल्लेख है।

तस्मिन् योधाभिधपुरवरे श्रीमदाचार्यपादा-
देशान्मासांश्चतुर उषितो यो विनीतो विनेयः ।
साधुः सैष प्रहरविगमे भाद्रराकारजन्यां
प्राचीशैलोपरि परिगतं शीतरश्मिं ददर्श ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा चैनं स परमगुरुध्यानसन्धानलीन-
स्वान्तः कान्तं तमिति रजनेः स्वागतं व्याजहार ।
सद्यः साक्षाद्गुरुपदयुगं नन्तुमुत्कण्ठितोऽपि
द्रागेतेन स्थितिपरवशो वन्दना प्रापयिष्यन् ॥ ९ ॥

१० वें पद्य से कवि चंद्र को स्वागतादि वचनों के कहने का प्रारंभ करता है जो ३० वें पद्य में जा कर समाप्त होता है। इन २१ पद्यों में, स्वागत, कुशल प्रश्न, कुछ देर विश्रान्ति लेने का अनुरोध, अपना

प्रयोजन, उस के करने के लिये नम्र प्रार्थना, चंद्र में उस के करने की योग्यता, चंद्र का जातिमत्त्व, उस के पिता, भ्राता और भगिनी आदि कुटुम्बियों के किये हुए जगत् के उपकारों का वर्णन और प्रार्थना के भंग करने में उस की लघुता आदि बातों का बडा ही रसमय और हृदयग्राहि वर्णन है। देखिए, १० वें और ११ वें पद्य में कैसे नम्र और प्रिय वचनों द्वारा इन्दु का स्वागत और कुशलप्रश्न पूछा गया है—

दिष्ट्या दृष्टः सुहृदुडुपते ! ऽस्माभिरद्यातिथिस्त्वं
पीयूषौघैर्भृशमुपचरन् प्राणिनामीक्षणानि ।
पुण्यैः प्राच्यैः फलितमतुलैः रस्मदीयैरुपेया—
त्त्वापुण्यानां नयनविषयं यत्प्रियः स्मर्यमाणः ॥ १० ॥

देहे गेहे कुशलमतुलं वर्तते कच्चिदिन्दो !
नीरोगाङ्गी सुभग गृहिणी रोहिणी तेऽस्त्यभीष्टा ? ।
अन्याः सर्वा अपि सकुशला दक्षजाः सन्ति पत्न्यः ?
पञ्चार्चिः शं कलयति हृदानन्दनो नन्दनस्ते ? ॥ ११ ॥

इस प्रकार कुछ कुशलप्रश्न पूछे वाद, थोडे समय तक ठहर कर मार्ग का श्रम दूर करने के लिये कवि इन्दु से कहता है कि—

मार्गश्रान्तः क्षणमिह सुखं तिष्ठ विश्रामहेतो—
रुत्तुङ्गेऽस्मिन् शिखरिशिखरे दत्तपादावलम्बः ।
हृद्यः पद्माभिधवरसरःसम्भवस्त्वां समीरः
सर्प्पन्नुच्चैः सुखयतु सखे ! केतकीगन्धबन्धुः ॥ १४ ॥

और फिर अपनी प्रार्थना सुनने तथा उस के करने में मन्दभाव न दिखाने के लिये कहता है कि—

शान्तिं नीते श्रम इति ततश्चेतसि स्वास्थ्यमाप्ते
दत्वा कर्णाववहितमनाः श्रोष्यसि प्रार्थनां मे ।
न श्रान्तानां सुखयति कथा स्निग्धवर्गोदिताऽपि
स्वस्थे चित्ते प्रणयमधुरा बुद्धयो ह्युद्भवन्ति ॥ १७ ॥
श्रुत्वा याच्ञां मम हिमरुचे ! न प्रमादो विधेयो
नो वावज्ञाऽभ्यधिकविभवोन्मत्तचित्तेन कार्या ।
प्रेमालापैश्चतुरदयितानिर्मितैर्विस्मृतिं न
प्राप्या प्रायः प्रथितयशसः प्रार्थनाभङ्गभीताः ॥ १८ ॥

क्यों कि, तुझे अपने पिता को आदर्श रखना चाहिए और वह जिस तरह जगत् का उपकार करता है वैसे तुझे भी उपकार भाव-धारण करना चाहिए। देख, तेरा पिता क्या करता रहता है?—

भ्रातर् ! तातस्तव गुणनिधिः पश्य रत्नाकरोऽसौ
वर्षे वर्षे नवजलधरप्रापितैरम्बुपूरैः ।
विश्वं विश्वं तरुणतपनोद्दामतापाभितप्तं
सेकं सेकं सुखयति सदाऽभीष्टविश्वोपकारः ॥ १९ ॥

२१ वें पद्य में कवि ने इन्दु को गन्तव्यस्थान बतलाया है और कहा है—

गन्तव्यस्ते तपनतनयातीरकोटीरमिन्दो !
सूर्यद्रङ्गो गुरुपदयुगस्पर्शसम्प्राप्तरङ्गः ।
गत्वा तत्र त्रिभुवनजनध्येयपादारविन्दो
द्रष्टव्यः श्रीतपगणपतिर्भाग्यसम्भारलभ्यः ॥ २१ ॥

इस प्रकार कवि अपने संदेश के पहुंचाने के स्थान का तथा तपगच्छपति के देखने का सूचन कर फिर रास्ते का वर्णन करता है और मार्ग में कनकगिरि, जालोर और सीरोही होते हुए अर्बुदाचल

(आवू पहाड) पर जाने के लिये कहता है। आवू पहुंचे वाद वहां के भिन्न भिन्न शृङ्गों का अवलोकन कर जगद्विख्यात-जैन-देवालयों में जाने का और उन में विराजित जिनेश्वरों की भव्य और शान्त मूर्तियों के वंदन पूजन करने का आग्रह करता है।

तत्र श्रीमान् विमलवसतौ भाति नाभेयदेवः
सेवायातत्रिदशनिकरः पूर्णपादोपकण्ठः।
नेमिस्वामी दिशति च शिवान्यानतानां निविष्टः
साक्षादिन्द्रालय इव वरे वस्तुपालस्य चैत्ये ॥ ५३ ॥

इन दोनों मंदिरों के अद्भुत और आश्चर्यकारक शिल्पकार्य का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

रूप्यस्वच्छोपलदलमयौ चित्रदोत्कीर्णचित्रौ
चञ्चच्चन्द्रोदयचयचितौ कल्पितानल्पशिल्पौ।
जीयास्तां तौ विमलनृपतेर्वस्तुपालस्य चोच्चौ
प्रासादौ तौ स्थिरतरयशोरूपदेहाविव द्वौ ॥ ५४ ॥

आवू के इन मुख्य और सुप्रसिद्ध मन्दिरों के देखने वाद भीमासाह श्रेष्ठि के वनाये हुए तथा खरतरवसति के मंदिर के देखने का भी कवि इन्दु से आग्रह करता है। अचलगढनाम के शिखर पर जो चतुर्मुख जिनप्रासाद है और जिस में प्रचुरसुवर्णमिश्रित वृहदाकार धातुमय जिनमूर्तियें हैं-जिन का कुल वजन १४४४ मन कहा जाता है—उन के देखने के लिये भी इन्दु को प्रेरणा की गई है और कहा है कि—

किञ्चिद्दूरे भवति च ततस्तत्र दुर्गोऽचलाख्यो
मौलौ तस्मिन् विलसति चतुर्द्वारमुत्तुङ्गचैत्यम्।
यादृक् तत्रोच्छ्रितमनुपमस्वर्णरीरीविमिश्रं
न क्ष्मापीठे क्वचिदधिगतं तादृगर्चाचतुष्कम् ॥ ५९ ॥

६४ वें काव्य में, आबू से रवाना हो कर, सरस्वती नदी के तट पर बसे हुए सिद्धपुर पहुंचने का इन्दु से कहा गया है। वहां पर क्षण भर ठहर कर, फिर निमेषमात्र में, जगत्प्रसिद्ध राजनगर (अहमदाबाद) पहुंच जाने का उल्लेख है। कवि चन्द्र से कहता है कि वहां पर सब से पहले, समुद्र की कान्ता जो साबरमती नदी है, वह अपने पति के पुत्र ऐसे तुझ को आया हुआ देख कर, कल्लोलरूप भुजाओं से तुझे आलिङ्गन देने के लिये उपस्थित होगी।

तत्रालोक्य स्वपतितनयं राजतेजोभिरामं
दर्भाङ्कुरच्छलपुलकिता त्वामुपस्थास्यतेऽसौ।
आमूलाग्रं तरलिततनुर्वीचिहस्तैरुदस्तै-
र्दूरादालिङ्गितुमिव रसात्साभ्रमत्यब्धिकान्ता ॥ ६९ ॥

अहमदाबाद उस समय बड़ा आबाद शहर था। जैनधर्म का वहां पर साम्राज्य सा छा रहा था। बड़े बड़े सेठों और धनाढ्यों के विशाल और उच्च भवनों के कारण प्रेक्षकों को कुबेर की अलका का और रावण की लंका का स्मरण होता था। अनेक क्रोडाधिपति इस नगर में रहते थे। यहां का एक विशाल घर बड़े गाँव के जैसा था और एक पाटक (पाडा=वाडा) सहर के जैसा था। इस तरह इस नगर का कवि ने बहुत वर्णन किया है। देखिए—

लक्ष्मीस्तत्रारमति सततं भूरि कोटिध्वजानां
गेहे गेहे बहुविधधनैः कृतनानास्वरूपा।
दृष्ट्वा चैनां सुभगभगिनीं त्यक्तचाञ्चल्यदोषां
चिन्तातीतं नियतमतुलं प्राप्स्यसि त्वं प्रमोदम् ॥ ७३ ॥
एकैकोऽस्य ध्रुवमुडुपते! पाटकोऽन्यैः पुराणां
वृन्दैस्तुल्यो जनपदसमान्येव शाखापुराणि।
वेश्मैकैकं पृथुतरमुरुग्रामतुल्यं तदस्य
माहात्म्यं कः कथयितुमलं प्राप्तवाग्वैभवोऽपि ॥ ७४ ॥

७९-८०-८१ इन तीन काव्यों में वटपद्र (वडौदे) शहर का वर्णन है। इस नगर के मध्य भाग में, जहां चारों तरफ के रास्ते इकट्ठे होते हैं, २४ कमानों का एक वड़ा उच्च मण्डप है। इस के ऊपर ४ मांजिल हैं। अंतिम मंजिल पर चढ कर देखने से सारा वडौदा शहर और आस पास के दूर दूर तक के दृश्य दिखाई देते हैं। यह मण्डप श्रीविनयविजयजी के समय भी मौजूद था। वे इन्दु के प्रति, इस मंडप पर ठहर कर चारों दिशा के दृश्यों को देख ने के लिये कहते हैं कि—

मध्येऽस्त्यत्र प्रचुरसुषमो मण्डपोऽत्यन्ततुङ्ग-
स्तत्र स्थित्वा चतसृषु दिशास्वीक्षणीयं त्वयेन्दो !
द्रष्टासि द्राक् श्रियमनुपमामस्य विष्वक्पुरस्य
रम्यं ह्येतच्छुचिरुचिचतुर्द्वारचैत्यानुकारम् ॥ ८१ ॥

वडौदे के बाद ४-५ काव्यों में कवि भरूच और उस के पास बहने वाली नर्मदा नदी का उल्लेख कर एक दम सुरत की शोभा का वर्णन करने लग गया है। सुरत उस समय वडी उन्नत दशा में था। सारे हिन्दुस्थान में वह सब से वड़ा व्यापार का स्थान था। उस समय उस में पृथ्वी के प्रायः सभी देशों के मनुष्य व्यापार करने के लिये आया जाया करते थे। सुरत की उस समय वह दशा थी जो आज बंबई की है। दूर दूर के देशों से, तापी नदी द्वारा सैंकडों जहाज आया जाया करते थे और सब प्रकार का माल लिया दिया जाता था। कवि इस शहर का बहुत कुछ वर्णन करता है। वहां के धनाढ्य और सम्मान्य जैनसमुदाय की वडी महिमा गाई गई है। लिखा है कि—

यत्र श्राद्धास्ततसुमनसो विश्वमान्या वदान्याः
संख्यातीता अमितविभवाः प्रौढशाखाप्रशाखाः।
कुत्राप्याद्याद्यरकजनिताः संस्थिताः कल्पवृक्षाः
प्रादुर्भूतास्तपगणपतिप्रौढपुण्यानुभावात् ॥ ९९ ॥

सुरत में गोपीपुरा नाम का जो भाग है वह सारे शहर में विशिष्ट-भाग माना जाता है। इस भाग में जैनसमुदाय की विशेष वसति है और सम्पत्तिशाली भी अधिक है। श्रीविनयविजयजी के समय में भी यही भाग अधिक विशिष्ट था। आचार्य इसी गोपीपुरे के उपाश्रय में ठहरे हुए थे। कवि ने इस उपाश्रय की शोभा का बड़ा ही आकर्षक और वैभववाला वर्णन किया है। देखिए—

मध्ये गोपीपुरमिह महान् श्रावकोपाश्रयोऽस्ति
कैलासाद्रिप्रतिभट इव प्रौढलक्ष्मीनिधानम्।
अन्तर्वर्त्यार्हतमतगुरुप्रौढतेजोभिरुद्य-
ज्ज्योतिर्मध्यस्थितमघवता ताविषेणोपमेयः ॥ १०१ ॥

भित्तौ भित्तौ स्फटिकसरुचौ कुट्टिमे कुट्टिमे च
सङ्क्रामंस्त्वं सुभग भविताऽस्याचलक्ष्यस्वरूपः।
युक्तं चैतत्तरणिनगरोपाश्रयस्यान्यथाश्री-
र्द्रष्टुं शक्या न खलु वपुषैकेन युष्मादृशापि ॥ १०२ ॥

तस्य द्वाराङ्गणभुवि भवान् स्थैर्यमालम्ब्य पश्यन्
साक्षाद्देवानिव नृजनुषो द्रक्ष्यति श्राद्धलोकान्।
हस्त्यारूढानथ रथगतान् सादिनश्चार्थपौरु-
ष्यर्थान् श्रोतुं रसिकहृदयान् शीघ्रमाटीकमानान् ॥१०३॥

उपाश्रय के मध्य में जो व्याख्यान-मण्डप और व्याख्याता के बैठने का सिंहासन था उसका स्वरूप पढ़िए—

मध्ये तस्याः श्रमणवसतेर्मण्डपो यः क्षणस्य
सोऽयं कान्त्याऽनुहरति सभां तां सुधर्मां मघोनः।
मुक्ताचन्द्रोदयपरिचितस्वर्णमाणिक्यभूषा-
श्रेणीदीप्रो विविधरचनाराजितस्तम्भशोभी ॥ १०५ ॥

मध्ये सिंहासनमनुपमं तस्य शक्रासनाभं
चेतश्चैतत्सुखयति सतां हृद्यपद्यानुकारम् ।
सालङ्कारं सुघटितमहासन्धिबन्धं सुवर्णं
स्वच्छच्छायं सुललितचतुष्पादसम्पन्नशोभम् ॥ १०६ ॥

दीप्रोपान्तः स्वसदृशरुचा पादपीठेन नम्र-
क्ष्माभृच्छ्रेणीमुकुटघटनाकोमलीभूतधाम्ना ।
पङ्क्त्योडूनामिव गुणयुजा मौक्तिकस्वस्तिकेन
व्योम्नो लक्ष्मीं किल निदधतोपेन्द्रपादाञ्चितेन ॥ १०७ ॥

यहां से आगे, १४ काव्यों का एक कुलक है, जिस में आचार्य के गुणों की खूब प्रशंसा की गई है और चंद्र से कहा है, कि तूं उस उपाश्रय में जा कर व्याख्यान-मण्डप के सुवर्ण-सिंहासन पर बैठे हुए ऐसे महान् और प्रभावक आचार्य के दर्शन और वन्दन कर कृतार्थ होना। आचार्य की प्रशंसा में लिखे हुए ये काव्य वहुत ही उत्तम और एक जैनाचार्य के उच्च गुणों का खयाल कराने वाले हैं।

तत्रासीनं परिणततपस्तेजसा पीतमन्तः-
शुक्लध्यानोद्भवनवमहोद्द्योतितात्मस्वरूपम् ।
साक्षात्तीर्थंकरमिव जगज्जन्तुजीवातुभूतं
मूर्त्या शान्ताद्भुतमधुरया दत्तभव्यप्रमोदम् ॥ १०८ ॥

*   *   *   *   *   *

विद्यावद्भिः सुभगतनुभिश्चारुचारित्रचर्यैः
श्रीगुर्वाज्ञाविनयनिपुणैः सेवितं साधुवर्यैः ।
श्रद्धालूनां पृथुपरिषदि प्रौढधाम्ना निषण्णं
त्रायस्त्रिंशैरिव परिगतं संपदीन्द्रं सुराणाम् ॥ १२० ॥

वन्देथाः श्रीतपगणपतिं सार्वमैदंयुगीनं
पीनं पुण्यप्रचयमुदधेर्नन्दन ! त्वं लभेथाः ।

प्राच्यैः पुण्यैः फलितमतुलैस्तावकीनैः सुलब्धं
जन्मैतत्ते नमसि च गतिर्भाविनी ते कृतार्था ॥ १२१ ॥

अंत के १० काव्यों में कवि चन्द्र से गच्छपति के पास जाने का और अपनी विज्ञप्ति के कहने का स्वरूप बताता है और कहता है कि—

स्थित्वा तस्माद्विजनसमये श्रीगुरोः पादपद्मं
स्पृष्ट्वा स्वच्छैर्हिमकरकरैर्विज्ञ ! विज्ञप्यमेवम् ।
शिष्योऽर्णीयान् विनयविजयो द्वादशावर्तभाजा
विज्ञप्तिं व्याहरति महता वन्दनेनाभिवन्द्य ! ॥ १२६ ॥

यच्छ्रीपूज्यक्रमयुगमिलादुर्गमध्ये नतोऽहं
प्रागासं नोपकृतिमिव तद्विस्मरामि क्षणार्द्धम् ।
श्रीतातानां तदुरुकृपया भाषणं स्मर्यमाणं
सर्वाङ्गीणं सपदि पुलकोद्भेदमाविष्करोति ॥ १२७ ॥

तुष्यत्युल्लासयति करणान्युल्लसन्त्येव भूयो
भूयो गच्छत्युपगुरुपदं गाढमुत्कण्ठते च ।
बाष्पाक्लिन्ने सृजति नयने गद्गदान् कण्ठनादा-
नेतच्चेतः प्रणयरसतश्चेष्टते नैकधा मे ॥ १२८ ॥

निद्रा दोषो जगति विदितो जागरश्चाप्रमादः
सम्प्रत्येतन्मम तु हृदये वैपरीत्येन भाति ।
निद्रां जाने गुणमनुगुणं दर्शनं वो ददानां
जागर्यां च प्रगुणमगुणं तत्र विघ्नं सृजन्तीम् ॥ १२९ ॥

जागर्य्यायां जपति रसना युष्मदाख्यां यथा मे
निद्रायामप्युपहितमनास्त्वेन शश्वत्तथैव ।
तस्मात्सम्प्रत्यहनि निशि वा जागरानिद्रयोर्मे

भेदं लोका अपि पटुधियो जानते नापरीक्ष्यम् ॥ १३० ॥
शङ्कातङ्कैर्मलिनमगुणैरुत्सृजन् पूर्वपक्षं
सिद्धान्तं सद्भिमव भवदाराधनं संश्रितोऽस्मि ।
सम्भाव्यस्तत्परमगुरुभिः स्निग्धया प्रेमदृष्टया
येनात्यर्थं फलितसकलप्रार्थितार्थो भवेयम् ॥ १३१ ॥

देखिए, कैसे अच्छे भाव और सुन्दर वाक्य हैं। कैसी अच्छी कल्पना और कैसा रमणीय वर्णन है। इस में लेखक ने केवल विज्ञप्ति ही का अर्थ नहीं भरा है परन्तु अपने काल के राष्ट्रीय भावों का भी गर्भित रूप से हाल लिख दिया है जो इतिहास-प्रेमियों के लिये अवलोकनीय वस्तु है।

---

१ विजयप्रभसूरि के गुरु श्री विजयदेवसूरि थे। उनका स्वर्गवास सं. १७१२ में हुआ था। उन्होंने पहले विजयसिंहसूरि को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा था और तदनुसार उन्हें अपने हाथसे आचार्यपद पर अभिषिक्त भी कर दिया था। परंतु दैवयोग से सं. १७१० में उन की मृत्यु हो गई। बाद में फिर विजयदेव सूरि ने किसी कारण वश, और और विशेष सुयोग्य साधुओं को छोड कर, विजय प्रभ नाम के विद्वान को आचार्यपद दिया। इस से कितनेक साधु नाराज हो गये और उनके जीते तक तो कुछ नहीं बोले परंतु मरे बाद, विजयप्रभसूरि का प्रत्यक्ष विरोध करने लगे। ये श्रीविनयविजयजी वाचक भी उन्हीं में सम्मीलित थे। कुछ वर्षों बाद आचार्य श्रीविजयप्रभ का प्रभाव बढा और पूर्व की अपेक्षा वे विशेष प्रतापी दिखाई देने लगे। संघ में उन का सन्मान भी बहुत कुछ होने लगा। इस स्थिति को देख कर, संघ में विरोध के बीज की जड़ ऊंडी न जम जायँ इस शुभ इरादे से, वाचक श्रीविनयविजयजी ने अपने विचारों की दशा को पलट दिया और उस आचार्य-विरोधी मंडली का त्याग कर गच्छपति की आज्ञा का स्वीकार किया। जिस वर्ष यह वृत्तान्त बना था प्रायः उसी वर्ष यह 'इन्दुदूत' लिखा गया था। इस लिये लेखक ने, इस अन्तिम काव्य में आचार्य से प्रार्थना की है, कि अगुणों के कारण मलिन ऐसे उस पूर्वपक्ष को छोड़ कर मैं आप के शासन का आश्रित हुआ हूं इस लिये मुझ पर प्रेमदृष्टि रक्खें कि जिस से मेरी प्रार्थना सफल हों।

ऊपर के इन श्लोकों से पाठकों को 'इन्दुदूत' नामक विज्ञप्ति-लेख के स्वरूप का ज्ञान हो गया होगा। अब एक ऐसे ही दूसरे लेख का कुछ परिचय कराया जाता है।

❀ महोपाध्याय श्रीमेघविजयजीका मेघदूतसमस्यालेख। ❀

वाचक श्रीविनयविजयजी के समकालीन और उन्हीं के जैसे उत्तम प्रकार के विद्वान् श्रीमेघविजयजी भी थे। इन्हें भी महोपाध्याय की पद्वी मिली थी। न्याय, व्याकरण, काव्य, ज्योतिष आदि अनेक विषयों पर इन्हों ने उत्तम कोटि के ग्रंथ रचे हैं। ये एक समय दक्षिण के औरंगाबाद नाम के शहर में वर्षाकाल रहे हुए थे। गच्छपति आचार्य श्रीविजयप्रभसूरि उस साल सौराष्ट्र के द्वीपबंदिर (दीव बंदर) में विराजमान थे। महोपाध्याय श्रीमेघविजयजी ने औरंगाबाद से उस साल, आचार्य की सेवामें, जो विज्ञप्तिपत्र भेजा है वह भी 'इन्दुदूत' के ढंग का है। कालिदास के मेघदूत का अंतिमपाद ले कर और तीन पाद नये बना कर–अर्थात् मेघदूत की समस्यापूर्ति द्वारा–यह पत्र लिखा गया है। इस कारण इस पत्र का नाम भी लेखकने 'मेघदूतसमस्यालेख' ऐसा दिया है। इस में किसी स्वतंत्र दूत की कल्पना न कर उसी मेघ को दूत बनाया है। इन्दुदूत की तरह इस में भी, औरंगाबाद से दीवबंदर तक के बीच के प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानों और शहरों का सुन्दर वर्णन किया गया है और तत्तत्स्थलों में मेघ को रहने-देखने के मिष से कविने अपना भौगोलिक और प्राकृतिक ज्ञान का परिचय दिया है। नमूने के तौर पर कुछ पद्य लीजिए—

स्वस्तिश्रीमद्भुवनदिनकृद्वीरतीर्थाभिनेतुः
  प्राप्यादेशं तपगणपतेर्मेघनामा विनेयः।
ज्येष्ठस्थित्यां पुरमनुसरन् नव्यरङ्गं ससर्ज
  स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥
तस्यां पुर्यां मुनिगणगुरोर्विप्रयोगी स योगी

नीत्वा मासान् कतिचिदचिराद्वाचिकं नेतुकामः ।
भाद्रे पञ्चम्युदयदिवसे मेघमाश्लिष्टसौधं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

मत्वा तस्याऽभ्युदयनदशां वायुनोन्नीयमानां
चेतो वाचं झटिति गमनापेक्षमूचेऽस्य साधोः ।
प्रत्यासन्नेऽप्ययि ! तव गुरौ कार्यकार्यस्ति योगः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ ३ ॥

यह ज़माना औरंगजेबी था इस लिये भारत में सर्वत्र अराजकता और अशांति फैली हुई थी। मनुष्यों को एक प्रदेश में से दूसरे प्रदेश में जाना बड़ा कठिन और भयप्रद था। कविने इस बात का ज़िक्र बड़े ही अच्छे ढंग से कर दिया है।

जज्ञे भूमावतिविषमताऽन्योन्यसाम्राज्यदौस्थ्या-
त्कश्चिन्मां नो नयति यतिनामीशितुर्वाचवार्त्ताम् ।
तत्त्वां याचे स्ववशमवशात्सृष्टविश्वोपकारं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ ६ ॥

१० वें काव्य से २२ में काव्य तक शान्तिनाथ तीर्थंकर का वर्णन कर, फिर १२ काव्यों में औरंगाबाद का वर्णन किया है। औरंगाबाद से पूर्व दिशा में ८-१० मैल पर इतिहास प्रसिद्ध देवगिरि नगर-जिसे आज कल दौलताबाद कहते हैं—है। इस का भी कवि ने ५-६ पद्यों में अच्छा वर्णन किया है।

अस्याः प्राच्या सुभगभगिनी देवगिर्याह्वयास्ति
पूर्वं प्रत्याश्रयमिह चिरं तस्थिवान् रामचन्द्रः ।
सस्नौ स्नेहादिह जनकजा लक्ष्मणः केलिमाधा-
दित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥ ३५ ॥

दौलताबाद से ८-९ मैल के फासले पर ईलोरा का प्रसिद्ध पहाड़ है जो गुफामन्दिरों के कारण विश्व-विख्यात हो रहा है। यहां के जैसे मनोहर और आश्चर्यजनक गुफामन्दिर, जो पहाड में से पत्थर काटकर बनाये गये हैं, अन्यत्र बहुत कम दिखाई देते हैं। इन गुफा-मन्दिरों में भारतीय सभी देव-देवियों की मूर्तियें विद्यमान हैं। यहां पर सब मिला कर कोई ३४-३५ गुफामन्दिर हैं जो लगभग मैल सवा मैल जितने विस्तार में बने हुए हैं। इन मन्दिरों में १२ बौद्धों के १७ हिन्दुओं के और ५ जैनों के हैं। जैन-मन्दिरों में बडी ही भव्य और विशाल जिनमूर्तियें स्थापित हैं, जिनमें से कुछ पद्मासन लगाये बैठी हैं और कुछ कायोत्सर्ग धारण कर खडी हैं। मेघविजयोपाध्याय ने अपने दूत मेघ को, देवगिरि से इस ईलोरा के पहाडको हो कर और वहां के जैनमंदिर में विराजित पार्श्वनाथ-देव को नमस्कार कर फिर आगे को जाने का कहा है।

इत्येतस्मान्नगरयुगलाद्वीक्ष्य केळिस्थलं त्व-

मीलोराद्रौ सपदि विनमन् पार्श्वमीशं त्रिलोक्याः।

भ्रातः! भ्रातर्व्रज जनपदस्त्रीजनैः पीयमानो

मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः॥ ४२॥

ईलोरा के आगे का रास्ता बताते हुए लेखक ने मेघ से कहा है, कि यहां (ईलोरा) से चले बाद, तूं नाना प्रकार के पहाडों और नगरों को लांघता हुआ अणकिटणकी के पर्वत पर पहुंचना और जल्दी होने पर भी, थोडे से समय तक वहां पर अवश्य ठहरना-क्यों कि पूर्व काल में श्रीपार्श्वनाथ भगवान् वहां पर विचरे थे इस लिये वह स्थल अति पवित्र है। वहां से उड कर फिर तुङ्गिआ-शैल पर-जिसे आज कल मांगी-तुंगी का पहाड कहते हैं-जाना और उस के शिखर पर विराजमान तथा पशुओं के भी प्रबोधक ऐसे श्रमण-भगवान् को (तीर्थंकर देव की प्रतिमा को) अपनी जलधारा से सिंचन कर फिर गर्जना द्वारा वहां के पक्षियों को खूब नचाना।

गत्यौत्सुकेऽप्यणंकिटणकीदुर्गयोः स्थेयमेव
पार्श्वस्वामी स इह विहृतः पूर्वमुर्वीशसेव्यः ।
जाग्रद्रूपे विपदि शरणं स्वार्गिलोकेऽभिवन्द्य-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥ ४७ ॥
उत्पत्यास्मात्प्रणम विपुले तुङ्गिआशैलशृङ्गे
रामं कामं श्रमणवृषभं बोधितारं पशूनाम् ।
तत्सम्बुद्धान्वयजशिखिनो मूर्त्तिमस्याभिषिच्य
पश्चाददद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्त्तयेथाः ॥ ४८ ॥

तुङ्गिआ-शैल से चले बाद कुछ दूर जाने पर गुजरात की रमणीय भूमि आ जाती है और सब से प्रथम अभ्युदय और लक्ष्मी का मंदिर ऐसा सुरत-बंदर मिलता है। विनयविजयजी की तरह मेघविजयजी ने भी सुरत का वैभवशालि वर्णन किया है। लिखा है कि वहाँ के धनी श्रावकों ने श्रीविजयप्रभसूरि के प्रवेश-समय में याचकों के प्रति स्वर्णधारा वर्षाई थी।

सभ्येभ्यानामहमहमिकावृद्धसौधाग्ररत्नै-
रातिथ्यं ते बहु विरचयन्मानयेस्तत्पुरापि ।
हैमैः श्राद्धव्रज इह गुरोरागमे मार्गणानां
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥ ५२ ॥

सुरत के बाद, तापी, नर्मदा, भृगुपुर (भरूच), मही नदी, हरिगृहपुर (?) और साबरमती का एक एक पद्य में उल्लेख कर, फिर सिद्धशैल (सिद्धाचल=शत्रुंजय) का वर्णन किया है। उस के बाद एक दम द्वीपपुरि (दीव बंदर) का वर्णन प्रारंभ होता है। इस के वर्णन में कवि ने बहुतसा स्थान रोका है। नगर के वर्णन बाद आचार्य का गुणगान और संक्षिप्त तया उन का जीवनचरित कहकर

---

१ यह 'अणकिटणकी' कहां पर है इस का पता नहीं लगा।

अपनी विज्ञप्ति और अपने यहां का वृत्तान्त कहना शुरू किया है। यथा—

प्रादुर्भूते दिनमुखसुखे सौरतेजस्त्विषाऽपि
विश्वं व्याप्तं कथयति महीनाथ ! नान्दी विशेषः ।
कामक्रीडानिरतमिथुनान्युत्सृजंस्त्यक्तनिद्रं
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ ११० ॥

सम्यास्थायामिह भगवतीपाटपूर्वोत्तराद्या-
ध्यायव्याख्या भवति तदनु श्रीगुरोर्गीतिवृत्तैः ।
गन्धर्वाली सुखयति जनं सोत्सवं श्रोत्रपेयैः
कान्तोदन्तः सुहृदुपहृतः सङ्गमात्किञ्चिदूनः ॥ १११ ॥

शिष्याध्यायोऽव्रतविरमणं तत्र वापूर्दिदेश
कीर्त्यङ्कूरानिव रजतजद्वादशोद्यद्दशाङ्कान् ।
वात्सल्यानि प्रवरवसनैर्नामजापोऽर्हदादेः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥ ११२ ॥

* * * * * *

एवं नित्योत्सवपरिचयैराश्रितोऽपि प्रकामं
मेघः शिष्यो गुरुपदयुगासेवया विप्रयुक्तः ।
सर्वं वाद्यं मनसि रसिको मन्यमानः सुनेत-
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ ११९ ॥

इस के बाद लेखक ने, अपने को आचार्य के दर्शन की उत्कटेच्छा बतला कर अन्त में जिस दिन सुगुरु के चरणकमलों का पुण्यजनक स्पर्श होगा वह दिन धन्य मानूंगा, इत्यादि कह कर पत्र समाप्त किया गया है।

चेतोदूत।

मेघविजयोपाध्याय की तरह एक अन्य विद्वान् ने भी मेघदूत ही के अंतिमपाद की समस्यापूर्ति कर अपना विज्ञप्तिलेख भेजा है। इस में उस ने अपने चेतः (चित्त) ही को दूत कल्पा है और उसी के द्वारा अपना संदेश, गुरुसेवा में पहुंचाना चाहा है। इस का रचना-प्रकार ऊपर्युक्त दूतों से भिन्न प्रकार का है। इस में गुरु और स्थानादि के विशेष नामों का स्पष्ट उल्लेख न कर सामान्य रूप से ही वर्णन किया है, कि जिस से सदैव और सब कोई इस का व्यवहार कर सके। बडी अच्छी मधुर और प्रासादिक रचना है। उदाहरण[1] के लिये इस के भी कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं।

ते जीयासुर्जगति गुरवः प्रौढपुण्यप्रभावा
भास्वद्रूपे प्रतपति भृशं यत्प्रतापे प्रतप्ताः।
दीना वादीश्वरसमुदयाः कुर्वते तापशान्त्यै
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

संयोगार्थी गुरुपदभुवो वल्लभायाः प्रसक्तेः
शिष्यः कश्चित् समदमिह दुर्वारणं स्वैरचारम्।
चिन्तायोगात् सुचिरमचलस्वात्मनिष्ठं मनः स्वं
वप्रक्रीडापरिणतगजं प्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

* * * * * * *

निश्शेषार्थप्रथननिपुणं चित्तमेतत्तदस्मात्
स्वाभीष्टं मे नियतमचिरात् सिद्धमेवेति मत्वा।
दत्तार्घाय प्रमदजनितैर्बाष्पपूरैः स तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ ४ ॥

---

१ 'मेघदूतसमस्यालेख' और 'चेतोदूत' दोनों प्रबंध इसी ग्रन्थरत्नमाला के २४ और २५ वें रत्नांक में, थोडे समय पहले, प्रकट हो चुके हैं।

चेतः क्लीबं गतबलतया नैव कार्यक्षमं य-
श्चेतन्येनापि हि विरहितं पुद्गलात्मत्वतो वा ।
स व्यामूढस्तदपि सहसारोप्य पुंस्त्वं ययाचे
कामार्तो हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ ५ ॥
त्वय्यायत्तं ननु तनुमतामत्र दुःखं सुखं वा
त्वत्तो नान्यो जगति सकले कश्चिदास्ते महीयान् ।
तेनाहं त्वां परहितरतं प्रार्थये स्वार्थसिद्धयै
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ ६ ॥

सन्देश के प्रेषक ने इस प्रकार चित्त का कुछ स्वरूप दिखा कर फिर अपने गुरु के गुणों का वर्णन करना प्रारंभ किया है जो लगभग १०० पद्यों में पूर्ण होता है। गुरुवर्णन के बाद शिष्य अपने को जो गुरु का वियोग हो रहा है उस का उल्लेख करता है और फिर चेतः द्वारा गुरु से कहलाता है कि—

ब्रूहि त्वं मे ननु तव विना सङ्गमालोकमेकं
हा ! नेष्यन्ते कथमिव मया दुःखिना दुर्दिनानि ।
अन्तःस्फूर्जद्विरहदहनप्रोच्छलद्धूमलेखा-
दिवसंसक्तप्रविरलघनव्यस्तसूर्यातपानि ॥ ११५ ॥

इस प्रकार नाना प्रकार के चिन्ता-उद्गारों के निकाले बाद शिष्य फिर कुछ आश्वासन प्राप्त करता है और संसार के निस्सार भावों का विचार करता हुआ कहता है कि—

निस्सारेऽस्मिन् प्रकृतिविरसे भूरिदुःखेऽल्पसौख्ये
संसारे किं भवति बहुना फल्गुना शोचनेन ।
यस्माज्जन्मान्तरविरचितैः कर्मभिर्देहभाजां
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ ११९ ॥

इन्दुदूतादि पत्रों के उद्धृत किये गये इन वहु-संख्यक पद्यों के अवलोकन से पाठकों को मुनियों के विज्ञप्ति-लेखों का स्वरूप पूर्ण तया ज्ञात हो गया होगा। और यह भी ध्यान में आ गया होगा कि ये पत्र कैसे महत्व के और अवलोकनीय होते हैं। मेरे पास जो पत्र हैं वे एक से एक वढिया और देखने लायक हैं परंतु कहां तक उन का उल्लेख किया जायँ। उपर्युक्त वाचक विनयविजयजी का एक दुसरा पत्र है जो संवत् १६९४ की साल का लिखा हुआ है। यह पत्र, उपाध्याय जी ने वारेजा नामक गाम-जो अमदावाद के पास है-से खंभात में, श्रीविजयानंदसूरि की सेवा में भेजा था। इस पत्र के भिन्न भिन्न अभिधान वाले पाँच अधिकार हैं। इन अधिकारों में, अनेक तरह का वर्णन है जो काव्यप्रेमियों के मन को मुग्ध वनाता है। चित्र-काव्य और विविध छन्दों का तो मानों एक छोटा सा संग्र ही है। इन्हीं का एक और तीसरा पत्र है, जो इन्हों ने देवपत्तन (प्रभास-पाटण) से, अणहिल्लपुर-पाटन में श्रीविजयदेवसूरि के समीप भेजा था। इस के पद्यों का आदि भाग प्राकृत में और उत्तरार्ध संस्कृत में है।

इस का भी कुछ नमूना लीजिए।

श्रीजिन वर्णन—

सत्थिसिरिकमलिणीगहणदिणणायगं
नेमिजिणणायगं सिद्धिसुहदायगं।
यमतिभक्तिस्फुरत्पुलकदन्तुरतनु-
र्नाकिनिकरो नमत्यमलमतिवैभवः॥ १ ॥
जेण सुहसीलवम्मेण वम्महभडो
जति मुसुमूरिओ जइवि अइउब्भडो।
चित्रमिह किमतनोः परिभवे दोष्मता
बलपरीक्षाविलसाच्युतास्यत्विषा॥ २ ॥

नगर वर्णन—

विणिम्मियं जं विहिणा सवाणियं सरं व निच्चं पउमाभिरामं ।
सराजहंसं समवाप्तजीवनैरनेकलोकैर्विहितप्रशंसम् ॥ १४ ॥

* * * *

अणेगवण्णं सुपयत्थसत्थं संपत्तपत्तं ससिलोगवग्गं ।
यद्राजते दक्षनिरीक्षणीयं प्रशस्तियुक्पुस्तकवत्प्रशस्तम् ॥ १६ ॥

* * * *

सिरिमंते तत्थ पुरे पमूअमणिकणयरयणपडिहत्थे ।
श्रीपूज्यचरणपङ्कजपरागतिलकितमहीमहिले ॥ २१ ॥
उत्तुंगभवणवलहीसुलहीकयरयणिकंततणुफरिसे ।
श्रीमत्पत्तननगरे गुर्जरनीवृत्तिलकतुल्ये ॥ २६ ॥
जत्थ जिणेसरमंदिरसुंदरसियकलसकंतिपंतीहिं ।
उदीतोऽपि निशि सितांशुर्निर्णेतुं शक्यते नैव ॥ २७ ॥

* * * *

वीरजिणंदपरंपररचा सयसङ्कसड्ढीसंघट्टा ।
श्रीमद्देवकपत्तननगरान्नगराजवसुविभवात् ॥ ३३ ॥
हरिसरसवसुल्लसिरप्पभूअरोमंचकंचुआइत्तो ।
घटितकरद्वयसम्पुटसंटङ्कितपट्टुलल्लाटतटः ॥ ३४ ॥

* * * *

छव्वणनयणपउमप्पसिआवच्चेहिं वंदिऊण सिसु ।
विनयविजयाभिधानो विज्ञपयत्युचितविज्ञप्तिम् ॥ ३९ ॥

पर्युषणा वर्णन—

पढणपढावणसोहणनिरयणलिहणाइएसु गंथाणं ।
पूजाप्रभावनादिषु कार्येष्वार्येषु च भवत्सु ॥ ४० ॥
कालक्कमेण पत्ते भद्दवए मासि भव्वभद्दमए ।
श्रीपर्युषणापर्वानेकसुपर्वार्चितमुपेतम् ॥ ४१ ॥

तच्च—मासखवणाइदुक्करतवचरणं धम्मकज्जसंभरणं ।
सप्तदशभेदपूजाविरचनमप्यर्हदर्चानाम् ॥ ४२ ॥
बारसदिणाणि जीवाभयदाणुग्घोसणं सपुरगामे ।
याचकयाचितवितरणमपराधक्षमणकं च मिथः ॥ ४३ ॥
कप्पिअकप्पतरूवमसिरिकप्पसुअस्स विहिवक्खाणं ।
नवभिः क्षणैर्विशिष्टप्रभावनैः क्षणशतोपचितैः ॥ ४४ ॥
नच्चंत नडं गायंत गुणिजणं विविहसज्जियाउज्जं ।
स्थाने स्थाने जिनगुरुगुणगाथकदयिमानधनम् ॥ ४५ ॥
एवं परिवाडीए जिणहरगमणं पभाविअसतित्थं ।
सांवत्सरिकावश्यककरणं भवभूरिभयहरणम् ॥ ४६ ॥
खंडपुडसिरिफलाइहिं पभावणं भावभावणारम्मं ।
अतिमधुरभोज्यभक्त्या साधर्मिकपोषणं भक्त्या ॥ ४७ ॥
इच्चाइधम्मकज्जुज्जोइयाजिणसासणं विगयविग्घं ।
इह वेलाकूलेऽपि च विहितं पूज्यप्रसादेन ॥ ४८ ॥

आचार्य को कृपापत्र भेजने की प्रार्थना—

तेसिं सिरिपुज्जाणं संपत्तासेससाहुरज्जाणं ।
विलसत्प्रसादपत्रं समभिलपत्येष शिशुलेशः ॥ ६० ॥
तह्मा पउरपसायं सम्मं धरिऊण सेवगस्सुवरिं ।
स्वाङ्गपरिच्छदकुशलप्रवृत्तिपीयूषजलदेन ॥ ६१ ॥
लेहेण पेसिएणं कायव्वा सिस्सचित्तसंतुट्ठी ।
नहि सारङ्गं सुखयितुमलमन्यो जलधरात्कोऽपि ॥ ६२ ॥
उववेणवं पणामो कायव्वो चित्तगोअरे मज्झ ।
बालस्यापि गरिष्ठैर्नमदमितनरेन्द्रतातिभिरपि ॥ ६३ ॥

आचार्य की सेवा में रहने वाले साधुओं के नाम और उन को अनुवंदनादि—

किंच—अइसयबुद्धिसमिद्धा सुपसिद्धा रिद्धिविजयवरविबुहा ।
पंडितविनीतविजयाः सचित्रोचंसा महासुधियः ॥ ६५ ॥
सिरिसंतिविजयविबुहा बुद्धिपहाणा महापहाणाय ।
श्रीअमरविजयविबुधा विबुधाः श्रीरामविजयाख्याः ॥ ६६ ॥
कप्पूरविजयविबुहा पसरिअकप्पूरसुरहिजसपसरा ।
सुमतिततिश्रामण्यो विबुधाः श्रीमतिविजयसञ्ज्ञाः ६७ ॥
नयविजयाभिहाविबुहा गुरुसेवाभुणिअसयलणयविणया ।
सुगृहीतनामधेयाः परेऽपि ये मुनिवरास्तत्र ॥ ६८ ॥
तेसिं सिरिगुरुसेवारेवासालिलाइकुंजरवराणं ।
अनुवन्दना मदीया प्रसादनीया प्रसादार्द्रैः ॥ ६९ ॥

अपने पास रहे हुए तथा अपनी आज्ञासे अन्य स्थानों में ठहरे हुए साधुओं के नमनादि—

एत्थ गणिकणयविजया सनेमिविजयाय रयणविजयाय ।
मुनिरुद्वविजयसञ्ज्ञस्तथा मुनी रूपविजयाख्यः ॥ ७० ॥
एएसिं साहूणं तिण्हं तह साहुणीण पइदियहं ।
प्रणतिरवधारणीया कृतप्रसादैः परमगुरुभिः ॥ ७१ ॥
जयविजयणामधेज्जा वेलाउलबंदिरे ठिआ विबुहा ।
अमरविजयेन मुनिना युक्ता मुनिवृद्धिविजयेन ॥ ७२ ॥
घणघल्लिकयचउमासा गणिणो जे कंतिविजयणामेणं ।
ऋषिभारमल्लसहितास्तथा धुराजीपुरे ये च ॥ ७३ ॥
जिणविजयक्खा गणिणो कुंअरविजयेण पिम्मविजयेण ।
युक्ता इति ये यत्र स्थिता व्रतस्थाश्चतुर्मासीम् ॥ ७४ ॥

ते तत्थ सुहमणुट्ठिअपज्जोसवणाइविविहसुअजोआ ।
प्रणमन्ति विनयविनताः श्रीगुरुचरणान् भुवनशरणान् ॥ ७५ ॥
अवि इत्थ सड्ढसड्ढीसंघो सयलो वि नमइ गुरुचरणे ।
श्रीवीरपट्टवीथीकल्पद्रुमसमगुरुप्रह्वः ॥ ७६ ॥
अहमित्थ पइदिणं चिय सिरिगुरुसमहिट्ठिएण हियएण ।
प्रणमामि जिनाधीशांश्चन्द्रप्रभनेमिवीरादीन् ॥ ७७ ॥
तुम्हाण मारिसया सीसा वहुआ वि पज्जुवासंति ।
अयमपि शिशुस्तथापि स्मर्तव्योऽर्हत्प्रणामादौ ॥ ७८ ॥

* * * *

आसोअबहुलपक्खे धण्णाए धणतेरसीइ दिणे ।
विनयेन निजगुरूणां लिखिता विज्ञप्तिरिति भद्रम् ॥ ८२ ॥

सब से बड़ा विज्ञप्ति पत्र ।

तपागच्छ में जो अनेकानेक विद्वान् और विश्रुत आचार्य हो गये हैं उन में एक मुनिसुन्दरसूरि नाम के आचार्य भी हैं। ये बड़े प्रतिभाशाली और प्रभावक महात्मा हो गये हैं। ये सहस्रावधानी और सिद्धसारस्वत कवि थे। इन्हों ने बारह-चौदह वर्ष जितनी छोटी उम्र में ही एक "त्रैविद्यगोष्ठी" नाम का ग्रंथ लिखा है जिसमें न्याय, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंद, और अलंकार आदि विषयों संबंधी अपनी अप्रतिहतगति का अच्छा परिचय दिया है। विक्रम संवत् १४६६ में, इन्हों ने जो विज्ञप्ति पत्र अपने गुरु (आचार्य) श्रीदेवसुन्दरसूरि की सेवा में भेजा था, वह विज्ञप्तिपत्रों के साहित्य और इतिहास में सब से अधिक महत्त्व रखता है। इस पत्र के जैसा विस्तृत और प्रौढ पत्र अन्य किसी ने नहीं लिखा। यह पत्र १०८ हाथ जितना लंबा था। इस में एक से एक विचित्र और अनुपम ऐसे सेंकडों चित्र और हजारों काव्य लिखे गये थे। महोपाध्याय

श्रीधर्मसागरजी ने अपनी तपागच्छ की पट्टावली में, इस के विषय में लिखा है कि—

येनानेकप्रासादपद्मचक्रषट्कारकक्रियागुप्तकार्धभ्रमसर्वतोभद्रमुरज-सिंहासनाशोकभेरीसमवसरणसरोवराष्टमहाप्रातिहार्यादिनव्यत्रिशतीबन्धतर्कप्रयोगाद्यनेकचित्राक्षरद्व्यक्षरपञ्चवर्गपरिहाराद्यनेकस्तवमयत्रिदशतरङ्गिणी-विज्ञप्तिनामधेयाष्टोत्तरशतहस्तमितो लेखः श्रीगुरूणां प्रेषितः।*

इस के तीन स्रोत और ६१ तरंग थे। यह ग्रन्थ संपूर्ण तया नहीं मिलता। केवल तीसरे स्रोत का गुर्वावली-नामक एक विभाग—जिसे कर्ता ने महाहृद की संज्ञा दी है,—और प्रासादादि चित्रबंध कितनेक स्तोत्र इधर उधर छूटे छूटे मिलते हैं। गुर्वावली छपकर प्रकट हो चुकी है। इस के सब मिला कर कोई ५०० पद्य हैं। इस में, श्रमणभगवान् श्रीमहावीर से ले कर लेखक तक के तपागच्छ के आचार्यों का संक्षिप्त, परन्तु विश्वस्त इतिहास है। इस के अन्त में लेखक ने स्वयं इस प्रकार लिखा है—

इति श्रीयुगप्रधानावतारश्रीमत्तपागच्छाधिराजबृहद्गच्छनायक-पूज्याराध्यपरमाप्तपरमगुरुश्रीदेवसुन्दरसूरिगणराशिमाहिमार्णवानुगामिन्यां तद्विनेयश्रीमुनिसुन्दरगणिहृदयहिमवदवतीर्णश्रीगुरुप्रभावपद्महृदप्रभवायां श्रीमहापर्वाधिराजश्रीपर्युषणापर्वविज्ञप्तित्रिदशतरङ्गिण्यां तृतीये श्रीगुरुवर्ण-नस्रोतसि गुर्वावलीनाम्नि महाहृदेऽनभिव्यक्तगणना एकषष्टिस्तरङ्गाः।

इस उल्लेख और गुर्वावली के अवलोकन से विज्ञ पाठक जान सकते हैं कि यह पत्र, संस्कृत साहित्य का कैसा अनुपम और अपूर्व रत्न होगा।

---

* स्वयं मुनिसुन्दरसूरिके शिष्य पं. हर्षभूषणगणि ने 'श्राद्धविधिविनिश्चय' में भी ये ही पंक्तियाँ लिखी हैं।

विज्ञप्तिपत्रों की प्राचीनता।

इस प्रकार के विज्ञप्तिपत्र कब से लिखे जाने लगे इस का कोई ऐतिह्य-प्रमाण नहीं मिलता. परन्तु अनुमान होता है कि यह प्रथा बहुत पुराणी होगी।

मेरे देखने में जितने पत्र आये हैं उन में जो सब से पुराणा है वह विक्रम की १३ वीं शताब्दी के मध्य का लिखा हुआ है। यह पत्र कागज पर नहीं परंतु ताडपत्र ऊपर है। (हिन्दुस्थान में जब कागज का प्रचार न था अथवा बहुत कम था तब अन्यान्य पुस्तक प्रबंधादि की तरह, मनुष्यों का परस्पर पत्रव्यवहार भी ताड़पत्रों पर ही चलता था।) इस का केवल एक ही-मध्य का पत्र-मिला है। यह पाटन के भाण्डार के रद्दी और खंडित ताडपत्रों में से-जो नष्ट-भ्रष्ट हुए पडे थे-उपलब्ध हुआ है। यह पत्र चंद्रकुल के आचार्य भानुप्रभ के पास, वडउद्र (वडौदा) ग्राम से, प्रभाचंद्र गणि ने भेजा था। उपलब्ध पत्र में केवल गद्य ही गद्य है, पद्य नहीं। इस का गद्य बहुत सरस और सुन्दर है। रचना सालंकारिक और सरल है। पढते समय कादंबरी और तिलकमंजरी की पंक्तियों का आभास हो आता है। पाठकों के अनुभवार्थ कुछ सतरें इसकी भी टांकी जाती हैं।

परिस्फुरच्चारुचन्द्रार्कमण्डलसमुच्छलदातिवहलाकिरणजालजलकल्लोलमालिनि, अभ्रंकषशिखरलोकालोकभूधरप्रौढपालिनि, परिभ्रमत्तारानिकरसञ्चरद्विविधवयासि, जगल्लीलासरसि, सकलविवेकिजनमनःकमलवनेषु, विकाशैकसदनेषु, सततं वसन्ति । विपक्षकीर्तिकुमुदिनीकन्दग्रासलालसाः, अन्यत्र गमनालसाः, निखिलनिर्मलावतंसाः, यद्गुणराजहंसाः। असाधारणश्रीकुलमन्दिरम्, आश्रितदूरास्तकण्टकोत्करम्, अपास्तसमस्तजाड्याडम्बरम्, रात्रिंदिवं सविशेषोन्मेषप्रवरम्, विशुद्धपक्षालिसेव्यमानम्; सदामोदविधानप्रधानम्, समग्रराजहंसकृतपक्षपातम्, विकाशितगोपतिव्रातम्, सर्वातिशायिवैभवसम्भवनिर्मलम्, यदीयपदकमलं विलोक्य

किल निविडव्रीडास्पदनिजविभूतिविभावनोद्भवत्तीव्रतरतापप्रसरतया जलाश्रयेष्वजस्रं विहितसदनानि समस्तान्यपि पङ्कजवनानि । ये च षड्तर्कसम्पर्ककर्कशमतिं प्रागल्भीसमुद्भावितामुद्भुतविविक्तयुक्तिपरंपरापरिचयचारुवचश्चातुरीवशसकलजनसमक्षविनिर्जितानेकस्थानस्थाननिरवद्यविद्यामदामन्दवदावदवादिवृन्दनिरन्तरपरिस्फुरन्निविडान्तस्तापतप्तोच्छलदतुच्छोच्छ्वासानिलप्रवलितप्रतापानलकवलितसकलविपक्षकाङ्क्षितकक्षतया समुद्भूतप्रभूतजगदसम्भववैभवव्यतिकराः ।

तान्, शरच्चन्द्रचन्द्रिकाधवलगुणग्रामप्रथितयशःश्वेतातपत्रविराजमानान्, सन्मण्डलविलसदाश्चैश्वर्यप्रधानान्, चारुचारित्रचक्रवर्तिस्वगुरुकल्याणपट्टप्राप्तप्रतिष्ठान्, अक्षूणक्षमामारोद्वहनैकनिष्ठान्,[१] * * * * सकलजीवलोकतापकृत्क्रोधादिचरटोच्चाटनैकरतान्, अमिततमगौरवप्रासादपर्यन्तभूमिकावस्थितान्, अगण्यपुण्यपरिणतिसहचरीसमालिङ्गितमूर्तीन्, परलोकसाधनाद्भुततेजः परिस्फूर्तीन्, सर्वत्र प्रवर्तितत्रिकरणशुद्धव्यापारमनोहरान्, सदा सन्निहितसाधुकुञ्जरान्, निरस्तसमस्तदर्शनविवादान्, सुगृहीतनामधेयपूज्यराजश्रीभानुप्रभसूरिपादान्, वडउद्रग्रामात् प्रभाचन्द्रगणिः समस्तसाधुसहितः क्षोणीतलमिलन्मौलिमण्डलः, संयोजितकरकुड्मलः, प्रवर्द्धमानबहुमानाविस्तारिणीम्, निर्व्याजविनयमनोहारिणीम्, अमन्दामन्दरसोल्लासव्यक्तिम्, सद्भूतभक्तिम्, महाकल्लोलिनीम्, हृदयस्थलवाहिनीम्, नित्यमादधानः; अकुण्ठोत्कण्ठारसबन्धुराम्, निरूपमादरमेदुराम्, समुद्भवदसम्भ्रमभराम्, प्रतिपत्तिसम्पत्तिनिर्भराम्, त्रिचतुरावर्त्तवन्दनां विधाय विज्ञपति ॥

१ पत्र के एक किनारे का कुछ भाग टूट जाने से कितनेक वाक्य चले गये हैं ।

विज्ञप्ति-त्रिवेणि ।



जिस प्रवन्ध की यह प्रस्तावना लिखी जा रही है उस का नाम विज्ञप्तित्रिवेणि है। ऊपर जिन विज्ञप्ति पत्रों का हाल दिया गया है, यह विज्ञप्तित्रिवेणि भी उन्हीं में का एक पत्र है। ऊपरि वर्णित पत्रों की अपेक्षा यह विशेष महत्त्व का है। इस में केवल आलंकारिक-वर्णन ही नहीं है परंतु एक विशेष प्रसंग का सच्चा और संपूर्ण इतिहास भी है। ऐसा पत्र अभी तक पूर्व में कोई नहीं प्रकट हुआ। इस प्रकार के पत्रों के अस्तित्व की भी किसी को खबर नहीं है। अर्थात् यह एक विलकुल नई ही चीज प्रकट होती है। ऐसी दशा में, इस अपरिचित वस्तु का सर्वसाधारण को परिचय कराने के लिये विज्ञप्ति पत्रों के लिखने का मुख्य कारण और उन के स्वरूप आदि के विषय में विस्तृत उल्लेख करने की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता का विचार कर इस भूमिका को इतनी लंवानी पड़ी है और जुदा जुदा पत्रों में से इतने वहुसंख्यक और विस्तीर्ण अवतरण देने पड़े हैं। अव इस प्रकृत पत्र की ओर दृष्टि दी जाती है और इस में उल्लिखित विषय तथा लेखकादि का परिचय कराया जाता है।

यह पत्र विक्रम संवत् १४८४ के माघ सुदी १० मी के दिन का लिखा हुआ है। इसे, सिन्धदेश के मलिकवाहण नामक स्थान से, श्रीजयसागर उपाध्याय ने खरतरगच्छ के आचार्य श्रीजिनभद्रसूरि— जो उस समय गुजरात के अणहिलपुरपाटण में ठहरे हुए थे— की सेवा में भेजा था। पत्र वड़ी अच्छी आलंकारिक भाषा में सुन्दररूप से लिखा गया है। पढते समय वृत्तान्त के साथ काव्य का भी कुछ कुछ आनन्द आता है। लेखक ने इस में गद्य और पद्य दोनों का उपयोग किया है जिस से और भी इस की पठनीयता वढ़ गई है। वीच वीच में कोई कोई पद्य तो वहुत ही अच्छे लालित्यवाले हैं। साथ में छत्र और पद्मवन्धादि चित्र-पद्यों को भी स्थान दिया है। संघ

की मुसाफरी का और रास्ते के पहाड वगैरह स्थलों का जो स्वाभाविक वर्णन किया गया है वह बहुत रमणीय मालूम देता है। जो संस्कृत के अभ्यासी हैं वे तो स्वयं मूल पत्र को पढ़ कर, उल्लिखित वृत्तान्त का ज्ञान कर सकेंगे परन्तु जो संस्कृत नहीं जानते (और जिन की संख्या जैन-समाज में अत्यधिक है) उन के ज्ञानार्थ पत्र के सारांश देने की जरूरत होने से प्रथम वह दिया जाता है।

विज्ञप्ति-त्रिवेणि का सारांश।

आचार्य श्रीजिनभद्रसूरि की आज्ञा ले कर, श्रीजयसागरोपाध्याय, मेघराजगणि, सत्यरुचिगणि, पं० मतिशीलगणि और हेमकुंजरमुनि आदि अपने शिष्यों के साथ सिन्ध के मुल्क में विचरने गये। इधर उधर के गाँवों में विचरते ठहरते, संवत् १४८३ का चातुर्मास मम्मणवाहण नाम के नगर में किया। चउमासे बाद, संघपति सोमाक के पुत्र सं. अभयचन्द्र ने मल्कोट्टमहातीर्थ की यात्रा के लिये संघ निकाला। उपाध्याय श्रीजयसागरजी भी उस संघ के साथ गये और यात्रा कर पीछे मम्मणवाहण में आये। इसी अर्से में, फरीदपुर के श्रावक लोक मम्मणवाहण आये और उपाध्यायजी को अपने गांव में आने की विज्ञप्ति की। उपाध्यायजीने उन की विज्ञप्ति का स्वीकार कर मम्मणवाहण से विहार किया और द्रोहडोट्टादि गाँवों में होते हुए फरीदपुर पहुंचे। यहां के संघ ने उपाध्यायजी का बड़ा सत्कार किया और बडे ठाठ माठ से उन का नगर-प्रवेश कराया। साधुओं का मुख्य कर्तव्य जो धर्मोपदेश देने का है, वह यहां निरंतर होने लगा और उपाध्यायजी के उपदेश से जैनेतर *ऐसे कितने एक ब्रह्मक्षत्रिय और ब्राह्मण आदि भी जैनमतानुयायी हुए।* (मूलग्रंथ-पृ. २२-पं. १०-१३.) इस प्रकार कितने एक दिन बीते बाद, एक दिन सबेरे व्याख्यान दे कर उपाध्यायजी उठे थे और गायकजन कुछ गीतगान कर रहे थे, कि इतने में, कहीं से, हाथ में कमंडलु लिये हुए, फटे-पुराणे कपडे पहने हुए और केश वगैरह जिस के धूल से भरे हुए हैं ऐसा एक दुर्बल मुसा-

फर आ कर, उपाध्यायजी के सामने खडा हुआ और कुछ प्रणाम कर उन के आगे बैठ गया। उपाध्यायजीने उस की आकृति ऊपर से जाना कि यह कोई भला आदमी और तीर्थयात्रिक है। इस से उन्हों ने उस मुसाफर से पूछा, कि—" भाई तुम कहां से आये हो और किन किन तीर्थों के तुम ने दर्शन किये हैं ?। जो विविध देशों में फिरने वाले होते हैं वे अनेक अपूर्वापूर्व स्थानों को देखा करते हैं, इस लिये तुमने जो कोई अपूर्व स्थान या वात देखी सुनी हो तो कहो और हम लोकों का दिल खुश करो। " उपाध्यायजी के इन वचनों को सुन कर मुसाफर खुश हुआ और कहने लगा, कि-"सुनिए, एक अपूर्व तीर्थ का पता वतलाता हूं। "

" उत्तर दिशा में त्रिगर्तनाम का देश है जिस में अनेक अच्छे अच्छे तीर्थस्थल हैं। उन में सुशर्मपुर नाम के नगर में श्रीआदिनाथ भगवान् का जो तीर्थ है वह सब से अधिक पवित्र और महान् है। वह धाम अनादि है। इस वर्तमान कलि काल में, जब कि सब देशों में म्लेच्छों-मुसलमानों के अत्याचारों से तीर्थ स्थल नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं तब भी वह तीर्थ अखण्डित है। उस के वर्णन करने की मुज मंदबुद्धि में ताकात नहीं। जिसने उस तीर्थ के दर्शन कर लिये उसे फिर औरों के दर्शन की जरूरत नहीं। मैं तो उस तीर्थ की उपासना कर अपने आत्मा को धन्य मानता हुआ यहां पर आया हूं। वस, यही मैंने अपूर्व देखा है और उसे आप लोकों को संक्षेप में कह सुनाया है। मुझे अभी वहुत दूर जाना है, इस लिये मैं चलता हूं। " इतना कह कर वह यात्री रवाना हो गया। यात्री से इस वृत्तान्त को सुन कर वहां पर बैठे हुए उपाध्यायजी और उन के श्रोताजनों का चित्त चमत्कृत हुआ। उस महातीर्थ की यात्रा कर अपने जीवन को कृतार्थ करने की उत्कण्ठा, उन के मन में प्रवल हो ऊठी।

उस नगर (फरीदपुर) में राणा नामक सेठ के सोमचंद्र, पार्श्वदत्त और हेमा नाम के तीन पुत्र थे जो धनाढ्य हो कर वड़े भावुक थे। उपाध्यायजीने अपनी तीर्थ दर्शनेच्छा इन भ्राताओं को जनाई और यात्रा कराने का उपदेश दिया। उपाध्यायजी के उपदेश को

इन भाईयों ने अपने सिर पर चढाया और नगरकोट्ट का संघ निकालने की तैयारी करने लगे। अपने आसपास के क्षेत्रों के महाजनों को निमंत्रण देने के लिये आह्वान-पत्र भेजे गये और उन का सम्मान करने के लिये यथायोग्य प्रबन्ध करने लगे।

इसी बीच में मावारपपुर, कि जहां १०० घर श्रावकों के थे, के कुछ लोक उपाध्यायजी को अपने गाँव में ले जाने के लिये आए। उनकी इच्छा से उपाध्यायजी थोडे दिन के लिये वहां पर गये। फरीदपुर की तरह वहां भी धर्मोपदेश द्वारा अनेक लोकों को सन्मार्गगामी बनाये। सा० शिवराज नामक श्रावक ने अपने पिता हरिचन्द्र सेठ के साथ बड़ा संघवात्सल्य किया और बड़े भारी ठाठ-माट के साथ आदिजिन की प्रतिमा की प्रतिष्ठा उपाध्याय श्रीजयसागरजी के हाथ से करवाई। इस प्रसंग पर फरीदपुर के सा० रामा, सा० सोमा, सा० हेमा, सा० देवा और दस्सु आदि श्रावक लोक भी आये और कार्य की समाप्ति बाद उपाध्यायजी को वापस अपने गांव में ले गये। वहां पर पहुंचे बाद ज्योतिषी को बुलाया और नगरकोट्ट तरफ जाने के लिये संघ के प्रस्थान का मुहूर्त निकलवाया। उस के बताये हुए शुभ मुहूर्त वाले दिन अच्छे ठाठ-माट से, सा० सोमाके संघ ने प्रस्थान-मंगल किया।

संघ को चलते समय बहुत अच्छे और अनुकूल शकुन हुए। फरीदपुर से थोडी ही दूरी पर विपाशा (ब्यासा) नदी थी जिस के किनारों पर जम्बु, कदम्ब, नीम्ब, खजूर आदि वृक्षों की गहरी घटा जमी हुई थी और जहां पर नदी के कल्लोलों से ऊठी हुई ठंडी वायु मन्द मन्द रीति से चली आती थी; ऐसे चांदि के जैसे चमकिले रेती के मैदान में संघ ने अपने प्रयाण का पहला पडाव किया। दूसरे दिन नदी को उतर कर जालन्धर की ओर संघ चला। संघ में सब से आगे सिपाही चलते थे जो मार्ग में रक्षण निमित्त लिये गये थे। सिपाहियों में से किसी के हाथ में तलवार थी, तो किसी के हाथ में दण्ड था। कोई धनुष्य ले कर चलता था तो कोइ जबरदस्त लट्ठ

लिये आगे होता था। इस प्रकार सब से आगे उछलते, कूदते और गाजते हुए सिपाही चले जाते थे। उन के पीछे बडी तेजी के साथ चलने वाले ऐसे बडे बडे बैल चलते थे जिन पर सब प्रकार का मार्गोपयोगी सामान भरा हुआ था। उन के बाद संघ के लोक चलते थे जो कितने एक गाडी घोडों आदि वाहनों पर बैठे हुए थे और कई एक देव-गुरु-भक्ति निमित्त पैदल ही चलते थे। कितने ही धर्मी जन तो साधुओं की समान नंगे ही पैर मुसाफरी करते थे। इस प्रकार अविच्छिन्न प्रयाण करता हुआ और रास्ते में आने वाले गाँवों को लांघता हुआ संघ निश्चिन्दीपुर के पास के मैदान में, सरोवर के किनारे आ कर ठहरा। संघ के आने की खबर सारे गाँव में फैली और मनुष्यों के झूंड के झूंड उसे देखने के लिये आने लगे। गाँव का मालिक जो सुरत्राण (सुल्तान) करके था वह भी अपने दिवान के साथ एक ऊँचे घोडे पर चढ़ कर आया। जन्म भर में कभी नहीं देखे हुए ऐसे साधुओं को देख कर राजा बडा विस्मित हुआ। उपाध्यायजी ने उसे रोचक धर्मोपदेश सुनाया, जिसे सुनकर नगर के लोकों के साथ वह बडा खुश हुआ और साधुओं की स्तुति कर आदर पूर्वक प्रणाम किया। बाद में संघपति सोमा का सम्मान कर अपने स्थान पर गया। संघ वहां से प्रयाण कर क्रमसे तलपाटक पहुंचा। वहां पर गुरुओं को वन्दन करने के लिये देवपालपुर का श्रावकसमुदाय आया और अपने गांव में आने के लिये संघ को अत्याग्रह करने लगा। उन लोकों को किसी तरह समझा-बुझा कर संघने वहां से आगे प्रयाण किया और विपाशा (व्यासा) नदी के किनारे किनारे होता हुआ क्रम से मध्यदेश में पहुंचा। जगह जगह ठहरता हुआ संघ इस देश को पार कर रहाथा, कि इतने में एक दिन, एक तरफ से पोषरेश यशोरथ के सैन्य का और दूसरी ओर से शकन्दर के सैन्य का, "भगो, दोडो, यह फौज आई, वह फौज आई;" इस प्रकार का चारों तरफ से कोलाहल सुनाई दिया। इसे सुन कर संघ के हौंस ऊड गये। सब दिङ्मूढ हो गये। यात्रीलोक दिलमें बडे घबराये और अब क्या किया जाय इस की फिक्र में निश्चेष्ट से हो रहे। किसी प्रकार हौंस संभाल कर और परमात्मा का ध्यान धर संघ पीछा लौटा और विपाशा के

तट का आश्रय लिया। नावों में बैठ कर जल्दी से उस को पार किया और कुंगुद नाम के घाट में हो कर, मध्य, जांगल, जालन्धर और काश्मीर इन चार देशों की सीमा के मध्य में रहे हुए हरियाणा नाम के स्थान में पहुंचा। इस स्थल को निरुपद्रव जान कर वहां पर पड़ाव डाला। वहीं पर, कानुकयक्ष के मंदिर के नजदीक, शुचि और धान्य प्रधान स्थान में, चैत्र सुदी एकादशी के रोज सर्वोत्तम समय में, नाना प्रकार के वाद्यों के बजने पर और भाट-चारणों के, बिरुदावली बोलने पर, सब संघ इकट्ठा हो कर, साधुश्रेष्ठ सोमा को उस के निषेध कर ने पर भी, संघाधिपति का पद दिया। मल्लिकवाहन के सं० मागट के पौत्र और सा० देवा के पुत्र उद्धर को महाधर पद दिया गया। सा० नीवा, सा० रूपा, और सा० भोजा को भी महाधर पद से अलंकृत किया गया। सैलहस्त्य का बिरुद बुधासगोत्रीय सा० जिनदत्त को समर्पण किया गया। इस प्रकार वहां पर पदीदान करने के साथ उन उन मनुष्यों ने संघ की, भोजन-वस्त्र-आभूषणादि विविध वस्तुओं द्वारा भक्ति और पूजा कर याचक लोकों को भी खूब दान दिया। संघ के इस कार्य को देख कर मानों खुश हुआ हुआ और उस के गुणों का गान करने के लिये ही मानों गर्जना करता हुआ दुसरे दिन खूब जोर से मेघ वर्षने लगा। बेर बेर जितने बड़े बड़े ओले बादल में से गिर ने लगे और झाडों तथा झूंपडीओं को उखाड कर फेंक देने वाला प्रचण्ड पवन चलने लगा। इस जल-वृष्टि के कारण संघ को वहां पर पाँच दिन तक पडाव रखना पडा। ६ वें दिन सवेरे ही वहां से कूच की। सपादलक्षपर्वतकी तंग घाटियों को लांघता हुआ, सघन झाडियों को पार करता हुआ, नाना प्रकार के पार्वतीय प्रदेशों को आश्चर्य की दृष्टि से देखता हुआ और पहाडी मनुष्यों के आचार-विचारों का अनुभव करता हुआ संघ फिर विपाशा के तट पर पहुंचा। उसे सुखपूर्वक उत्तर कर, अनेक बडे बडे गाँवों के बीच होता हुआ, और तत्तद् गांवों के लोकों और स्वामियों को मिलता हुआ, क्रम से पातालगंगा के तट ऊपर पहुंचा। उसे भी निरायास पार कर क्रम से आगे बढते हुए और पहाडों की चोटियों को पैरों नीचे कुचलते हुए संघ ने दूर से, सोने के

कलश वाले प्रासादों की पंक्तिवाला नगरकोट्ट, कि जिस का दूसरा नाम सुशर्मपुर है, देखा। उसे देख कर संघजनो ने तीर्थ के प्रथम-दर्शन से उत्पन्न होने वाले आनंदानुसार, दान-धर्मादि सुकृत्यों द्वारा अपनी तीर्थ भक्ति प्रकट की। नगरकोट्ट के नीचे वाण-गंगा नदी वहती है जिसे उतर कर संघ गांव में जाने की तैयारी कर रहा था कि इतने में उस का आगमन सुन कर गांव का जैनसमुदाय, सुन्दर वस्त्रा-भूषण पहन कर, स्वागत करने के लिये सामने आया। अनेक प्रकार के वादित्रों और जयजयारवों के प्रचंड घोषपूर्वक महान् उत्सव के साथ, नगर में प्रवेश किया। सहर के प्रसिद्ध प्रसिद्ध मुहल्लों और वाजारों में घूमता हुआ संघ, साधु क्षीमसिंह के बनाये हुए शांतिनाथ-देव के मंदिर के सिंह-द्वार पर पहुंचा। 'निस्सही निस्सही नमो जिणाणं' इस वाक्य को तीन वार वोलता हुआ जिनालय में जा कर, खरतरगच्छ के आ-चार्य श्रीजिनेश्वरसूरि की प्रतिष्ठित की हुई शांतिजिन की प्रतिमा का दर्शन किया। तीन वार प्रदक्षिणा दे कर, नाना प्रकार के स्तुति-स्तोत्रों द्वारा अत्यंत आनंदपूर्वक प्रभुकी पर्युपासना की। इस प्रकार संवत् १४८४ वर्ष के ज्येष्ठ सुदी पंचमी के दिन, अपनी चिरकाल की दर्शनोत्कण्ठा को पूर्ण कर फरीदपुर का संघ कृतकृत्य हुआ। शान्तिजिन के दर्शन कर संघ फिर, नरेन्द्र रूपचन्द्र के बनाये हुए मंदिर में गया और उस में विराजित सुवर्णमय श्रीमहावीरजिन बिंब को पूर्ववत् वन्दन-नमन कर, देवल के दिखाये हुए मार्ग से युगादि जिन के तीसरे मंदिर में गया। इन मंदिरों में भी उसी तरह परमात्मा की उपासना-स्तवना कर निज जन्म को सफल किया।

इस प्रकार नगर कोट्ट शहर के मंदिरों की परम उत्साह पूर्वक यात्रा कर संघ ने उस दिन अपने ठहरने करने की व्यवस्था की और रास्ते का परिश्रम दूर करने के लिये विश्रान्ति ली। दूसरे दिन प्रातःकाल, शहर के पास, पहाडी पर, कङ्गदक (काङ्गडा) नाम का जो किला है और जिस में अनादियुगीन, अतिप्रभावशाली श्रीआ-दिनाथ भगवान् का प्राचीन और सुन्दर मंदिर है उस की यात्रा करने के लिये वडे भारी समारोह के साथ संघ ने प्रस्थान किया। संघ-

पति मार्ग में याचक गणों को इच्छित दान देता हुआ चला जाता था। किले में जाने के लिये राजमहलों के बीच में हो कर जाना पडता था। इस लिये राजा नरेन्द्रचन्द्र-जो उस समय वहां का राज्य करता था-ने अपने नौकरों को, संघ के आने जाने में हरकत न करने की आज्ञा दे दी। साथ में हेरंब नाम के एक आत्मीय नौकर को किले का मार्ग बताने के लिये भेजा। इस प्रतिहार के बताये हुए मार्ग से, शनैः शनैः राज-भवनों के मध्य हो कर और एक के बाद दूसरे को इस प्रकार सात दरवाजों को, जो किले में जाते वक्त बीच में पडते थे, पार कर संघ ने किले के अंदर प्रवेश किया। मार्ग में जाते समय, संघ को देखने के लिये, राजकीय और प्रजाकीय मनुष्यों की बडी भारी भीड लग गई थी। इन मनुष्यों के, चिरकाल परिचितों की तरह, प्रेम पूर्वक देखते हुए, संघजनों ने परमेश्वर परमात्मा श्री आदिनाथ को, अति भक्ति और आह्लाद पूर्वक प्रणाम किया। मुनियों ने नाना प्रकार से स्तवना कर भाव पूजा की और श्रावकोंने भावपूजा के साथ अगण्य फल-फूलादि द्वारा द्रव्य पूजा कर अपने आत्मा को निर्मल बनाया। इन आगन्तुक यात्रियों के प्रति वहां के वृद्ध मनुष्य इस तीर्थ का बहुत कुछ माहात्म्य वर्णन करने लगे। पुराना हाल सुनाते हुए वे कहने लगे कि-" यह महातीर्थ, श्रीनेमिनाथ तीर्थंकर (२२ वें) के समय में सुशर्म नाम के राजा ने स्थापित किया था। यह आदिनाथ भगवान् की जो मूर्ति है वह किसी की घडी हुई न हो कर स्वयंभू-अर्थात् अनादि है। इस का बड़ा भारी अतिशय चमत्कार-है, जो आज भी प्रत्यक्ष है। देखिए, भगवान् के चरणों की सेवा करने वाली यह जो अंबिकादेवी है (देवी की मूर्ति है), इस के प्रक्षालन का पानी-चाहे वह फिर एक हजार घडों जितना हो-भगवान् के प्रक्षालन के पानी के साथ, बिल्कुल पास पास होने पर भी, कभी नहीं मिल जाता। मंदिर के मुख्य गर्भागार में, चाहे कितना ही स्नात्र-जल पडा हुआ हो और फिर बाहर से दरवाजे ऐसे बंध कर दिये जायं कि जिस से कीटि का भी अन्दर न जा सके, तो भी क्षणभर में वह सब पानी सूख जाय गा। ऐसे ऐसे बहुत से प्रभाव आज भी इस महातीर्थ के प्र-

त्यक्ष हो रहे हैं।" इस प्रकार वहां के वृद्ध मनुष्य तीर्थ की महिमा का वर्णन कर रहे थे और संघ के मनुष्य प्रेम-पूर्वक सुन रहे थे, कि इतने में, राजा नरेन्द्रचन्द्र ने अपने प्रधान-मनुष्यों को भेज कर संघ सहित उपाध्याय जयसागरजी को वहुमान पूर्वक अपने पास वुलवाये। यह राजा बडा न्यायी, सुशील, सद्गुणी और धर्मप्रेमी था। यह विशुद्ध क्षत्रिय था। इस का कुल सोमवंशीय कहलाता था। इस ने सपादलक्ष पर्वत के पहाडी राजाओं का पराजय कर उन्हें गतगर्व किया था। श्वेताम्बर-साधुओं पर इस का वड़ा प्रेम और आदर था। अपने महल में पूर्वजों की स्थापित की हुई आदिनाथ भगवान् की प्रतिमा का यह वहुत उपासक था। राजा के वुलाने पर उपाध्यायजी अपने संघ के साथ उस के सभा-स्थान में पहुंचे। राजा ने अपना मस्तक नीचा नमा कर उपाध्यायजी को प्रणाम किया जिस के वदले में उन्हों ने, निर्ग्रन्थों के खजाना का सर्वस्वभूत ऐसा धर्म लाभ रूप आशीर्वाद दिया। सव के यथायोग्य-स्थान पर वैठ जाने वाद राजा ने कुशल प्रश्नादि पूछे। फिर स्वयं वह उपाध्यायजी के साथ विद्वद्गोष्ठी करने लगा। साथ में और और ब्राह्मण-क्षत्रियादि भी विविध प्रकार के वार्तालाप करने लगे। एक काश्मीरी विद्वान् कुछ देर तक शास्त्रार्थ भी करता रहा। उपाध्यायजी की विद्वत्ता और वाक्चातुरी देख कर राजा आदि सभी सभ्य बहुत खुश हुए और जैन विद्वानों की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। इस के वाद राजाने अपना निज का देवागार दिखलाया जिस में स्फटिक आदि विविध पदार्थों की वनी हुई तीर्थंकर आदि अनेक देवों की मूर्तियें विराजित थीं। इस प्रकार दिवस का वहुत कुछ भाग वहीं पर व्यतीत हो गया। सायंकालीन क्रियाकाण्ड के करने का अवसर प्राप्त हुआ देख उपाध्यायजी ने, राजा से, अपने स्थान पर जाने की इच्छा प्रकट की। राजाने, आदर पूर्वक, फिर भी मिलने का निवेदन कर संघकीय मंडली को जाने का आदेश दिया। इस प्रकार जैनशासन का वहुमान करा कर सायंकाल के समय में उपाध्यायजी स्वस्थान पर पहुंचे। सप्तमी के रोज संघ की ओर से नगर और किले में के चारों मन्दिरों में महा-पूजा रचाई गई। मन्दिरों को, गर्भागार से ले

कर ध्वजादण्ड तक, बहु-मूल्य ध्वजापताकाओं से खूब सजाये गये। नाना प्रकार के फल, फूल, पक्वान्न और नैवेद्य आदि पदार्थों के ढेर के ढेर भगवान् के सम्मुख भेंट किये गये। जगह जगह बाजे बजने लगे, नृत्य होने लगे और स्त्रियें मंगल-गीत गाने लगीं। संघपति ने गरीब से ले कर तवंगर तक-सभी को प्रीति-भोजन करवाया। इस तरह यह दिन बड़े उत्सव और आनंद में बिताया गया। अष्टमी के दिन, शांतिनाथ के मंदिर में खूब ठाठ-माट से नन्दी की रचना की गई और मेघराजगणि, सत्यरुचिगणि, मतिशीलगणि, हेमकुंजरमुनि और कुलकेशरिमुनि को उपाध्यायजी ने पंचमङ्गलमहाश्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा दी। एवं दशदिन तक नगरकोट्ट में संघ ने स्थिति की। जीदो-बीरो आदि वहाँ के श्रावकों ने उपाध्यायजी को चातुर्मास रहने के लिये बहुत कुछ आग्रह किया। ११ वें दिन सकलसंघ इकट्ठा हो कर फिर सभी मंदिरों में गया और गद्गदस्वर से, परमात्मा की प्रार्थना करता हुआ प्रास्थानिक चैत्यवन्दन कर, अपने गाँव की ओर रवाना हुआ। अनेक पहाड़ों, नदियों और जंगलों को पीछे छोड़ता हुआ गोपाचलपुर-तीर्थ को पहुंचा। वहां पर सं. धिरिराज के बनाये हुए विशाल और उच्चमंदिर में विराजमान् शांतिनाथ भगवान् के दर्शन-वंदन किये। ५ दिन तक वहां पर मुकाम किया। वहां से चल कर संघ विपाशा के तट पर बसे हुए नन्दनवनपुर गया, कि जहां पर श्रीमहावीर भगवान् का सुन्दर मन्दिर था। नन्दनवनपुर से कोटिल ग्राम पहुंचा और वहां पर श्रीपार्श्वनाथ की यात्रा की। वहां से फिर कूच कर, पर्वतों के घाटों और शिखरों को उलंघ कर कोठीपुर नगर में आया। वहां पर श्रीमहावीरदेव के दर्शन किये। इस गांव में श्रावकों की संख्या बहुत थी इस लिये उनके विशेषाग्रह से संघ को यहां पर दश दिन तक ठहरना पड़ा। सं. सोमा ने यहाँ पर सारे संघ को प्रीति-भोजन दिया और नाना प्रकार के वस्त्र भूषणादि द्वारा सार्धमिक बंधुओं का सत्कार किया। ११ वें दिन यहां से प्रयाण किया और चलते चलते कुछ दिन बाद, सतद्रु नाम का बड़े भारी प्रवाह वाला जो जलाशय है उस के निकट पहुंचा। यहां से सारा ही संघ नावाओं में सवार हो गया और ४०

कोश जितना लंबा जलमार्ग बेडाओं द्वारा पार कर, सुखपूर्वक, देवपालपुर पत्तन को पहुंचा। वहां के मृदुपक्षीय सं० वटसिंह आदि और खरतरगच्छीय सा० सारंग आदि श्रीमान् श्रावकों ने संघ का बडे भारी समारोह के साथ नगर प्रवेश कराया। यहां पर भी कोटीपुर की तरह सार्धमिक वात्सल्य आदि संघ-सत्कार संघपति महाधर आदि ने अच्छे प्रेम और उत्साहपूर्वक किये। यहां के श्रावक-समुदाय ने उपाध्यायजी को अपने शहर में चातुर्मास रहने के लिये अति आग्रह किया। उपाध्यायजी ने क्षेत्र की योग्यता मुताबिक, मेघराजगणि, सत्यरूचिगणि, कुलकेसरिमुनि और रत्नचंन्द्र क्षुल्लक; इन चार शिष्यों को यहां पर चातुर्मास करने के लिये रख दिये। विविध प्रकार के महोत्सव और पूजादि कार्यों में आनंदपूर्वक १० दिन निर्गमन कर संघ यहां से अपने गांव फरीदपुर की तरफ रवाना हुआ। जाते वक्त रास्ते में जो जो दृश्य देखे गये थे वे ही फिर अब क्रमसे दृष्टिगोचर होने लगे। एवं अविच्छिन्न प्रयाणों द्वारा विपाशा नदी को पीछे छोडता हुआ संघ उसी मैदान में जा पहुंचा, जहां चलते समय, पहला मुकाम किया था। इधर संघ के आने की खबर फरीदपुर में पहुंच गई थी इस लिये गांव के सब लोक स्वागत करने के लिये सामने आये। अच्छे ठाठ से संघ का गांव में प्रवेशोत्सव कराया गया। संघपति सोमा के भाई सा० पासदत्त और हेमा ने नालियर, सुपारी और ताम्बूल आदि दे कर सब नगरनिवासियों और यात्रियों का सत्कार किया। यात्रियों के मुंह से, तीर्थ का माहात्म्य और रास्ते के विविध बनावों तथा दृश्यों का वर्णन सुन सुन कर गांव के लोक भी आश्चर्य और आनन्द में निमग्न होने लगे। इस प्रकार निर्विघ्न पूर्वक यात्रा की समाप्ति हुई और सर्व यात्री पूर्ववत् अपने अपने जीवन-व्यवहार में विचर ने लगे।

कुछ दिन बाद उपाध्यायजी को आह्वान करने के लिये, मम्मणवाहण और मलिकवाहण नामक गांवों के श्रावकसमुदाय एक ही साथ फरीदपुर आये और अपने अपने गांव में ले जाने के लिये बहुत आग्रह करने लगे। फरीदपुर के लोकोंने भी अपने नगर में

रहने के लिये जुदा आग्रह करना शुरू किया। इस प्रकार तीनों तरफ से खींचा-तान होती देख उपाध्यायजी ने स्थानिक श्रावकों को तो कुछ समझा-बुझा कर शांत कर दिये परंतु आगन्तुक संघों का किसी तरह समाधान न हुआ। उपाध्यायजी ने दोनों के दिल राजी रखने के लिये एक युक्ति निकाली और उन से कहा कि यहां से रवाना होते समय जिस तरफ अच्छे शकुन होंगे उसी गांव में हम आयेंगे। इस बात का दोनों ने स्वीकार कर भाग्य के भरोसे पर आधार रक्खा। उपाध्यायजी उसी दिन सायंकाल को विहार कर प्रथम मम्मणवाहण की ओर चलने लगे परंतु गांव से बाहर निकलते ही अपशकुन हुए इस लिये उस मार्ग को छोड़ कर मलिकवाहण की तरफ प्रयाण किया। जो श्रावक आमंत्रण करने के लिये आये हुए थे उन्हीं के साथ वहां पर पहुंचे। द० मालाक ने उपाध्यायजी का प्रवेशोत्सव किया और वहीं पर सं० १४८४ का चातुर्मास निर्गमन किया। चातुर्मास-पर्युषणा पर्व-में अनेक श्रावक-श्राविकाओं ने मासक्षपण आदि बड़े बड़े तप किये। चउमासे बाद, पौषमहिने में, नन्दि महोत्सव किया गया और तीन साधु, चार श्रावक तथा २४ श्राविकाओं ने तपश्चरण आदि नाना प्रकार के अभिग्रह धारण किये। नगरकोट्ट से आते वक्त, देवपालपुर में मेघराजगणि आदि जिन ४ साधुओं को चातुर्मास रहने के लिये रख आये थे वे भी इस समय उपाध्यायजी के समीप आ पहुंचे।

* * * *

बस यही इस विज्ञप्तित्रिवेणि का सार है। उपाध्याय श्रीजयसागरजी की इस मुसाफरी का और तीर्थयात्रा का कुछ हाल, किसी के मुख से, आचार्य श्रीजिनभद्रजी ने सुना तो उन्हों ने इस का पूरा हाल जानना चाहा और तदनुसार पत्र द्वारा उपाध्यायजी को अपना भ्रमणवृत्तान्त लिख भेजने की सूचना की। इसी सूचना के प्रत्युत्तर में यह विज्ञप्तित्रिवेणी लिखी गई और नगरकोट्ट वगैरह तीर्थों की यात्रा के वृत्तान्त को आलंकारिक भाषा में निबद्ध कर आचार्य को भेंट किया गया।

* * * *

ऊपर दिये गये विज्ञप्तित्रिवेणि के सारांश से पाठक जान गये होंगे की यह पत्र ऐतिहासिक दृष्टि से कितने महत्त्व का है ?। इस में लिखा गया वृत्तान्त मनोरंजन हो कर जैनसमाज की तत्कालीन स्थितिपर कैसा अच्छा प्रकाश डालता है ?। इस के अवलोकन से हमें यह बात प्रत्यक्ष हो रही है कि उस समय, भारत के उन प्रदेशों में भी जैन धर्म का कैसा अच्छा प्रचार और सत्कार था कि जहां आज जैन शब्द से भी लोक विल्कुल परिचित नहीं हैं, अथव बहुत ही कम हैं। इस पत्र से साफ प्रकट हो रहा है कि पुराणे समय में गुजरात और राजपूताना की तरह सिंध और पंजाब में भी श्वेताम्बर जैन संप्रदाय का बहुत कुछ प्रचार था। उस समय इन प्रदेशों में हजारों जैन वसते थे और सैंकडों जिनालय मौजूद थे, कि जिन में का आज एक भी विद्यमान नहीं। जिन मरुकोट्ट, गोपाचल, नन्दनवनपुर और कोटिलग्राम आदि तीर्थस्थलों का इस में उल्लेख है उन का आज कोई नाम तक भी नहीं जानता। जहां पर पांच पांच दश दश साधु चातुर्मास रहा करते थे वहां पर आज दो घंटे ठहरने के लिये भी यथेष्ट स्थान नहीं। जिस नगरकोट्ट-महातीर्थ की यात्रा करने के लिये इतनी दूर दूर से संघ जाया करते थे वह नगरकोट्ट कहां पर आया है इस का भी किसी को पता नहीं। अस्तु।



अधिक परिचय।

इस प्रबन्ध में मुख्य कर तीन व्यक्तियों का विशेष उल्लेख है। आचार्य जिनभद्रसूरि, उपाध्याय जयसागर और नगरकोट्ट-महातीर्थ इन्हीं तीन नामों की इस पत्र में मुख्यता है। देखें तो अब इन के विषय में और भी कुछ विशेष वृत्तान्त या अधिक परिचय कहीं मिलता है नहीं ?

जिनभद्रसूरि।

अन्यान्य ऐतिहासिक साधनों के देखने से मालूम होता है कि

ये आचार्य बहुत अच्छे विद्वान् और प्रतिष्ठित हो गये हैं । ये खर-तरगच्छ की आचार्य परंपरा के ५६ वें पट्ट-धर-मुख्य शाखा के प्र-धान-आचार्य थे। इन के विषय में खरतरगच्छ की पट्टावलि-जो १९ वीं शताब्दी के अन्त में, बीकानेर (राजपूताना) के यति क्षमा-कल्याणकजी ने बनाई है-में इस प्रकार लिखा है।

" तत्पट्टे श्रीजिनभद्रसूरयः । तत्प्रबन्धो यथा—प्रथमं सं० १४६१ वर्षे सागरचन्द्राचार्येण श्रीजिनराजसूरिपट्टे श्रीजिनवर्द्धनसूरिः स्थापित आसीत् । स चैकदा जेसलमेरुदुर्गे श्रीचिन्तामणिपार्श्वदेवगृहे मूलनाय-कपार्श्वे स्थितां क्षेत्रपालमूर्तिं विलोक्य स्वामिसेवकयोस्तुल्यस्थानेऽवस्था-नमयुक्तमिति विचिन्त्य च क्षेत्रपालमूर्तिं तत उत्पाट्य द्वारे स्थापितवान्। ततः कुपितः क्षेत्रपालो यत्र तत्र गुरूणां चतुर्थव्रतभंगं दर्शयामास । अनया रीत्या एकदा [सूरयः] चित्रकूटे समागतास्तत्रापि देवेन तथैव कृतम् । ततः सर्वेऽपि श्रावकाश्चतुर्थव्रतभङ्गं ज्ञात्वाऽयं पूज्यः पदयोग्यो नेति कथयामासुः । अथ वर्द्धमान(वर्द्धन)सूरयो व्यन्तरप्रयोगतो ग्रथिली-भूताः सन्तः पिप्पलकग्रामे गत्वा स्थिताः, कियन्तः शिष्याः पार्श्वे स्थि-तवन्तः । अथ पश्चात् सागरचन्द्राचार्यप्रमुखसमस्तसाधुवर्गेण एकत्री-भूय गच्छस्थितिरक्षणार्थं नवीन आचार्यः स्थाप्य इति विचारं कृत्वा, एकं नवीनं क्षेत्रपालमाराध्य तं च सर्वदेशेषु सम्प्रेष्य, " यद् यूयं करिष्यध्व तदस्माकं प्रमाणम् " इति समस्तखरतरगच्छीयसंघस्य हस्ताक्षराणि आनाय्य सर्वसाधुमण्डलीं संमील्य, भाणसोलग्रामे आ-जग्मे । तत्र श्रीजिनराजसूरिभिरेकः स्वशिष्यो वाचकशीलचन्द्रगणिपार्श्वे अध्यापनाय रक्षितोऽभूत् । स चाधीतसकलसिद्धान्तार्थो भणशालिक-गोत्रीयो भारो इति मूलनामा सं० १४६१ [वर्षे] गृहीतदीक्षः क्रमेण पञ्चविंशतिवर्षाणो जातः । तं च योग्यं ज्ञात्वा श्रीसागरचन्द्रा-चार्यः सप्त भट्टाराक्षराणि संमील्य सं० १४७५ [वर्षे] माघसुदिपूर्णि-

मास्यां भणसालिक-नाल्हासाहकारितसपादलक्षरूपकव्ययरूपनन्दिमहोत्सवेन सूरिपदे स्थापितवान्। सप्तभकारस्तु अमी-भाणसोलनगरम् १, भणशालिकगोत्रम् २, भादौनाम ३, भरणीनक्षत्रम् ४, भद्राकरणम् ५, भट्टारकपदम् ६, जिनभद्रसूरि-नाम ७। अथैवंविधा अर्बुदाचलगिरनारजेसलमेरुप्रमुखस्थानेषु बिम्बप्रासादप्रतिष्ठाकारकाः। श्रीभावप्रभाचार्य-कीर्तिरत्नाचार्यस्थापकाः। स्थाने स्थाने पुस्तकभाण्डागारस्थापकाः श्रीजिनभद्रसूरयः सं० १५१४ मार्गशीर्षवदिनवम्यां कुम्भलमेरुनगरे स्वर्गं प्राप्ताः। तद्वारके सं० १४७४ [वर्षे] श्रीजिनवर्द्धमानसूरितः पिप्पलखरतरशाखा निर्गता।"

अर्थात्—जिनराजसूरि के पट्ट पर जिनभद्रसूरि बैठे। उन का वृत्तांत्त इस प्रकार है। सं. १४६१ के वर्ष में जिनराजसूरि के पट्ट पर

---

१ जिनराजसूरि को सं. १४३२ (एक दूसरी पुराणी पट्टावलि में ३३ की साल लिखी है) में, फाल्गुन वदि ६ के दिन, अणहिलपुर में, लोकहिताचार्य-जिन को जिनोदयसूरि ने सूरिपद दिया था-ने आचार्य पद्वी दी थी। इस पद का महोत्सव सा. धरणाने किया था। इन्हों ने सुवर्णप्रभ, भुवनरत्न और सागरचंद्र, इन तीन विद्वानों को आचार्य पद दिया था। सं. १४४४ में, इन्हों ने चित्तोड़-गढ पर आदिनाथ बिम्ब की प्रतिष्ठा की थी। (देवकुल पाटक-पृ. १५)। इन का स्वर्गवास सं. १४६१ में, देलवाडा (उदयपुर के पास) में हुआ था। इन के स्मरणार्थ वहां के सा. नान्हाक श्रावक ने इन की संगमर्मर-पत्थर की एक मूर्ति बनाई थी जो आज भी विद्यमान है। इस मूर्तिपर निम्न लिखित लेख खुदा हुआ है।

"संवत् १४६९ वर्षे माघशुदि ६ दिने ऊकेशवंशे सा० सोषा संताने सा० सुहडापुत्रेण सा० नान्हाकेन पुत्र वीरमादि परिवार युतेन श्रीजिनराजसूरिमूर्तिः कारिता प्रतिष्ठिता श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनवर्द्धनसूरिभिः।"

(देवकुलपाटक-पृ० १५।)

सागरचंद्राचार्य ने जिनवर्द्धनसूरि की स्थापना की। ये एक समय जेसलमेर (राजपूताना) गये तो वहां के चिन्तामणि-पार्श्वनाथ के मंदिर में मूलनायकतीर्थंकर की प्रतिमा की बराबरी में बैठी हुई क्षेत्रपाल-देव की मूर्ति देखी। उसे देख कर इन के मन में विचार हुआ कि क्षेत्रपाल, जो तीर्थंकरों का सेवक है, उस की प्रतिमा को परमात्मा की प्रतिमा के बराबरी में बिठाना अयुक्त है; इस लिये इन्हों ने उस मूर्ति को वहां से उठा कर दरवाजे में रख दी। यह देख कर क्षेत्रपाल कुपित हुआ और जहां तहां इन आचार्य के ब्रह्मचर्य का भंग दिखलाने लगा—स्त्रीका रूप धारण कर रात्रि के समय में इनके मकान में आने जाने लगा। इसी तरह कितनेक दिन बीत गये। ये फिरते फिरते चित्रकोट (चित्तोड) गये वहां भी इस क्षेत्रपाल ने वैसा ही किया जिसे देख कर श्रावकों की श्रद्धा इन पर से ऊठ गई। थोडे समय बाद इस व्यंतर के प्रयोग से ये भ्रमचित्त (पागल) बन गये। और कितने एक अपने शिष्यों के साथ पिप्पलगाँव में जा कर स्थिर वास हो कर रहने लगे। यह स्थिति देख कर, सागरचंद्राचार्य आदि समस्त साधुवर्ग एकत्र हुआ और गच्छ की स्थिति को व्यवस्थित रखने के लिये किसी नये आचार्य की स्थापना करने का विचार किया।

---

१ सागरचन्द्राचार्य ने, जेसलमेर के चिन्तामणि-पार्श्वनाथ के मंदिर में जिनराजसूरि के आदेश से, संवत् १४५९ में जिनबिम्ब की स्थापना की थी।

"नवेषुवार्धीन्दुमिते (१४५९)ऽथ वर्षे निदेशतः श्रीजिनराजसूरेः।
अस्थापयन् गर्भगृहेऽत्र बिम्बं मुनीश्वराः सागरचन्द्रसाराः ॥२१॥"

जेसलमेर का तत्कालीन राजा लक्ष्मणदेव राउल सागरचन्द्राचार्य का बहुत कुछ प्रशंसक और भक्त था; ऐसा निम्नलिखित पद्य से जाना जाता है।

"गाम्भीर्यवत्त्वात्परमोदकत्वाद्भार यः सागरचन्द्रलक्ष्मीम्।
युक्तं स भेजे तदिदं कृतज्ञः सूरीश्वरान् सागरचन्द्रपादान्॥१४॥"

(S. R. Bhandarkar's Second Report, 1904-5 and 1905-6, Page 94.)

एक दूसरे क्षेत्रपाल का आराधन कर सब जगह के खरतर संघों की इस विषय में अनुमति मंगवाई और फिर सब साधु इकट्ठे हो कर भणसोल नामक गाँव में आये। वहां पर श्रीजिनराजसूरि ने अपने एक शिष्य को, वाचक शीलचंद्र के पास अध्ययन करने के लिये रक्खा हुआ था जो सकल-सिद्धान्तों का अच्छा वेत्ता हो गया था। यह शिष्य *भणशाली गोत्रिय था। इस का मूल नाम भादो था। इस ने सं. १४६१ में दीक्षा ग्रहण की थी। इस समय इस की कुल उम्र २५ वर्ष की थी। आगन्तु साधुओं ने इसे आचार्यपद के योग्य समझ कर, सागरचंद्राचार्य ने सात भकारों का मिलान कर, सं. १४७५ में आचार्यपद दिया। सात भकार इस प्रकार है १ भाणसोल नगर, २ भणसालि गोत्र, ३ भादो मूल नाम, ४ भरणी नक्षत्र, ५ भद्राकरण, ६ भट्टारकपद और ७ जिनभद्रसूरि (नया) नाम। आचार्य पद का महोत्सव भणसाली सा० नाल्हा ने सवा लाख रुपये खर्च कर किया था। इन्हों ने अपने आचार्यत्व काल में आबू, गिरनार, जेसलमेर आदि अनेक स्थलों में, अपने उपदेश से, जिनमंदिर, जिन प्रतिमा और प्रासाद-प्रतिष्ठा आदि अनेक धर्मकृत्य करवाये थे। भावप्रभ और कीर्तिरत्न नाम के विद्वानों को आचार्य पद्वी प्रदान की थी। अनेक जगह पुस्तक-भाण्डार नियत किये थे। इस प्रकार बहुत कुछ शासनोन्नति कर सं. १५१४† के मार्गशिर्ष वदि ९ मी के

---

* पुराणी पट्टावलि में, छाजहड गोत्र लिखा है और पिताका नाम सा. धाणिक तथा माता का नाम पेतलदे लिखा है। इस में इन के जन्म की तारिख सं. १४५९ चैत्र वदि ६ और आद्रा नक्षत्र दी हुई है। यथा—

"सं० १४५९ चैत्र वदि ६ आद्रायां छाजहडान्वय सा० धाणिग भार्या पेतलदे कुक्षिभुवां—"

† बाबू पूर्णचंद्रजी नाहार एम्, ए; "जैनलेखसंग्रह" नाम की एक पुस्तक छपवा रहे हैं। इस में १२९ नंबर वाले लेख में-जो धातुमय जिनप्रतिमा ऊपर से लिया गया है-लिखा है कि—

दिन कुंभलमेर (तावे उदयपुर) में स्वर्गवास प्राप्त किया । इन के समय में, स. १४७४ में, जिनवर्द्धनसूरि से पिप्पल-खरतर नाम की खरतरगच्छ की ५ वी शाखा निकली । "

जिनवर्द्धनसूरि के विषय में जो उल्लेख इस में किया गया है वह कहां तक सत्य है उस का निर्णय मैं नहीं कर सकता; तथापि इतना तो अवश्य सत्य है कि, प्रथम जिनराजसूरि के पट्ट पर जिनवर्द्धन ही स्थापित किये गये थे परन्तु पीछे से किसी मतभेद के कारण या अन्य किसी निमित्त सागरचन्द्राचार्य और कितने एक खरतरगच्छ के अग्रगण्य मनुष्यों ने जिनभद्र को अपना आचार्य बनाया था । जिनवर्द्धनसूरि के भ्रमितचित्त होने का तथा क्षेत्रपाल के उठाने और उस के उपद्रव करने का जो उल्लेख किया गया है उस में तथ्य हों ऐसा प्रतीत नहीं होता । केवल मतभेद या पक्षविरोध के कारण यह वृत्तान्त गढ लिया गया है । मेरे पास खरतरगच्छ की एक और पुराणी पट्टावलि है, जो जिनमाणिक्यसूरि के

सं० १५१५ वर्षे आषाढ वदि २ श्री ऊकेशवंशे बरडा गोत्रे सा० हरिपाल सुत भा० आसा साधू तत्पुत्र मं० मंडलिकसुश्रावकेण भार्या सं. रोहिणि पुत्र सं० साजणप्रमुख परिवारसहितेन निजश्रेयसे विमलनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं च श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिपदे श्रीजिनभद्रसूरिभिः ।

यदि यह लेख ठीक हो-गल्त न हो-तो पट्टावलि में लिखी हुई जिनभद्रसूरि की स्वर्गतिथि भ्रान्त ठहरती है । परंतु इस पट्टावलि के सिवा एक और जूनी पट्टावलि में भी वही तिथि दी हुई है-और प्रामाणिक भी विशेष वही प्रतीत होती है। क्यों कि ऐसा न हो तो फिर जिनचंद्रसूरि, जो जिनभद्रसूरि के उत्तराधिकारी थे, की आचार्यपद्वी की तिथि भी भ्रान्त ठहरती है । संभव है कि उक्त लेख के पढने में गड़बड़ हो गई हो और १० की जगह १५ पढ़ा गया हो, क्यों कि जैननागरी लिपि में शून्य और पाँच के अंक में बहुत थोडा-नहीं के जैसा-फरक होता है ।

समय में (सं. १५८३-१६१२) लिखी गई है, उस में इस बात का कुछ भी उल्लेख नहीं है। केवल इतना ही लिखा है कि—

" सं. १४६१ वर्षे आषाढवदि १० श्रीदेवकुलपाटके सा. नान्हाकारितनन्द्यां सागरचन्द्राचार्यैः स्थापितानां प्राच्यादिषु देशेषु कृत-विहाराणां सङ्घोन्नति–गणवृद्धिकारिणां चतुर्थव्रतविराधनशंकया तैरेव प्रथक्कृतानां श्रीजिनवर्द्धनसूरीणां शाखा पिप्पलगणो जातः। "

इस अवतरण में सत्य की मात्रा, पूर्व के करते अधिक प्रतीत होती है। क्यों कि इस में, आक्षेप के रूप में कोई बात नहीं लिखी गई। प्रत्युत जिनवर्द्धनसूरि के पूर्वादि देशों मे विचरना और संघ की तथा गच्छ की वृद्धि करना आदि वाक्यों से, गुणों का उल्लेख किया है और फिर एक दोष का—वह भी शंका ही के रूप में-जिक्र किया है। इन दोनों लेखों से यह तो सूचित होता है कि वास्तव में जिन-वर्द्धनसूरि कोई सदोष न थे परन्तु सागरचंद्राचार्य-जो उस समय खरतर गच्छ में बहुत करके सब से वृद्ध और प्रतिष्ठित साधु थे-को चाहे तो, उन के आचरण में शंका पडी हों, या चाहे किसी बात पर परस्पर मनोमालिन्य हो गया हो, जिस से उन्हों ने गच्छ में, अपना जोर चला कर जिनवर्द्धनसूरि को पदच्युत करने के इरादे से नये आचार्य की स्थापना की। यद्यपि संघ के विशेष भागने, जिन-भद्रसूरि ही को अपना गच्छपति माना था तथापि जिनवर्द्धन सूरि का पक्ष भी प्रबल अवश्य था। यह बात, उन के पीछे जो जि-नचंद्रसूरि आदि जुदा आचार्य हुए और उन्हों ने अनेक स्थलों में प्रतिष्ठादि कार्य किये तथा पिप्पलखरतर के नाम से अद्यावधि जो उन की सन्तति विद्यमान रही; इसी से सत्य प्रतीत होगी।

अस्तु, प्रकृतविषय में जिनवर्द्धनसूरि की प्रधानता न हो कर-जिनभद्रसूरि की है; इस लिये उन्हीं के जीवन पर दृष्टि डालनी उ-चित होगी। इस में तो कोई संदेह नहीं कि जिनवर्द्धनसूरि की अ-पेक्षा जिनभद्रसूरि का भाग्य अधिक तेजस्वी था। गच्छ के बहुत

से प्रतिष्ठित साधु और श्रावक इन्हीं की आज्ञा का आदर करते थे इन्हों ने अपने जीवन-काल में, उपदेश द्वारा अनेक धर्मकार्य करवाये। कई राजा महाराजाओं को अपने भक्त बनाये। विविध देशों में फिर कर जैनधर्म की समुन्नति करने का यथेष्ट प्रयत्न किया। जेसलमेर में संभवनाथ के मंदिर में, संवत् १४९७ का एक बडा शिलालेख है जिस में, इन के उपदेश से उक्त मंदिर के बनने का तथा प्रतिष्ठादि होने का वृत्तान्त है। इस लेख में, इन के गुणों का तथा इन के करवाये हुए धर्मकार्यों का संक्षिप्त उल्लेख करने वाला एक 'गुरुवर्णनाष्टक' है। इस अष्टक के अवलोकन से, इन के जीवन का अच्छा परिचय मिलता है। देखिए,

" ये सिद्धान्तविचारसारचतुरा यानाश्रयन् पण्डिताः
सत्यं शीलगणेन यैरनुकृतः श्रीस्थूलभद्रो मुनिः।
येभ्यः शं वितनोति शासनशुची श्रीसंघदीप्तिर्यतो
येषां सार्वजनीनमाप्तवचनं येष्वद्भुतं सौभगम् ॥ १ ॥
श्रीउज्जयन्ताचलचित्रकूटमाण्डव्यपूर्जा [ ] रमुख्यकेषु।
स्थानेषु येषामुपदेशवाक्यान्निर्मापिताः श्राद्धवरैर्विहाराः ॥ २ ॥
अणहिल्लपाटकपुरप्रमुखस्थानेषु यैरकार्यन्त।
श्रीज्ञानरत्नकोशा विधिपक्षश्राद्धसङ्घेन ॥ ३ ॥
मण्डपदुर्गप्रह्लादनपुरतलपाटकादिनगरेषु।
यैर्जिनवरबिम्बानां विधिप्रतिष्ठाः क्रियन्ते स्म ॥ ४ ॥
यैर्निजबुद्धयानेकान्तजयपताकादिका महाग्रन्थाः।
पाठ्यन्ते च विशेषावश्यकमुख्या अपि मुनीनाम् ॥ ५ ॥
कर्मप्रकृतिप्रमुखग्रन्थार्थविचारसारकथनेन।
परपक्षमुनीनामपि यैश्चित्तचमत्कृतिः क्रियते ॥ ६ ॥
छत्रधरवैरिसिंहत्र्यम्बकदासक्षितीन्द्रमहीपालैः (?)।
येषां चरणद्वन्द्वं प्रणम्यते भक्तिपूरेण ॥ ७ ॥

शमदमसंयमनिधयः सिद्धान्तसमुद्रपारदृश्वानः ।
श्रीजिनभद्रयतीन्द्रा विजयन्ते ते गणाधीशः ॥ ८ ॥

(S. R. Bhandarkar's Second Report, 1904-5 and 1905-6; Page 96-97.)

तात्पर्यार्थ यह है कि—ये वडे प्रभावक, प्रतिष्ठावान् और प्रतिभाशाली आचार्य थे। सिद्धान्तों के विचारों को जानने वाले वड़े वड़े पण्डित इन के आश्रित (सेवामें) रहते थे। इन के उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य और सत्यव्रतको देख कर लोक इन्हें स्थूलिभद्र की उपमा देते थे। इन के वचन को सब कोई आप्तवचन की तरह, स्वीकारते थे। इन्हों ने अपने सौभाग्य से शासन को अच्छी तरह दीपाया-शोभाया-था। गिरनार, चित्रकूट (चितोड़-गढ) और माण्डव्यपुर (मंडोवर) आदि अनेक स्थलों में इन के उपदेश से श्रावकोंने वड़ेवड़े जिनभवन बनाये थे। अणहिल्लपुर-पाटण आदि स्थानों में विशाल पुस्तक-भाण्डार स्थापन करवा ये थे। मण्डपदुर्ग, प्रल्हादनपुर (पालनपुर) तलपाटक आदि नगरों में अनेक जिनबिम्बों की विधि-पूर्वक प्रतिष्ठायें की थीं। इन्हों ने अपनी बुद्धि से, अनेकान्तजयपताका (हरिभद्रसूरि रचित) जैसे प्रखर तर्कग्रन्थ और विशेषावश्यक-भाष्य (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण प्रणीत) जैसे महान् सिद्धान्तग्रन्थ अनेक मुनियों को पढाये थे। ये कर्मप्रकृति और कर्मग्रन्थ जैसे गहन ग्रन्थों के रहस्यों का विवेचन ऐसा सुन्दर और सरल करते थे कि जिसे सुन कर भिन्नगच्छ के साधु भी चमत्कृत होते थे और इन के ज्ञान की प्रशंसा किया करते थे। राउल श्रीवैरिसिंह[1] और त्र्यम्बकदास जैसे नृपति इन के चरणों में भक्तिपूर्वक प्रणाम किया करते थे।

---

१ वैरिसिंह जेसलमेर के राजा थे। ये राउल श्रीलक्ष्मणदेव के पीछे, उन के उत्तराधिकारी बने थे। इन्हों ने सं. १४९४ में, जेसलमेर में, लक्ष्मीकान्त प्रीत्यर्थ पंचायतन-प्रासाद बनवाया था जिसे आज-कल लक्ष्मीनारायण का मन्दिर कहते हैं। यह बात इस मन्दिर के शिलालेख से निश्चित होती है। यथा—

इस प्रकार ये आचार्य बड़े शान्त, दान्त, संयमी, विद्वान् और पूरे योग्य गच्छपति थे।

इन के उपदेश से, जेसलमेर के श्रावक सा. शिवा† महिरा, लोला और लाषण नाम के ४ भ्राताओं ने, संवत् १४९४ में बड़ा भव्य जिनमन्दिर बनाया जिस की प्रतिष्ठा इन्हों ने सं. १४९७ में की थी और संभवनाथ प्रमुख ३०० जिनबिम्ब प्रतिष्ठित किये थे। इस प्रतिष्ठा में उक्त ४ भ्राताओं ने अगणित द्रव्य खर्च किया था। दूर दूर के प्रदेशों से हजारों श्रावकों को कुंकुमपत्रिकायें भेज भेज कर बुलाये थे। प्रतिष्ठा बाद समग्रसाधर्मिक बन्धुओं को नाना प्रकार के

लक्ष्मणस्य तनयो विराजते वैरिसिंह इति विश्रुतः सदा।
तेन देवभवनं प्रतिष्ठितं राज्यवृद्ध(द्धच ?) खिल पाप विशुद्धये ॥५॥

वेदाङ्काब्धीन्दुवर्षे शिशिरऋतुवरे माघशुक्ले च पक्षे
षष्ठ्यां वै शुक्रवारे स्वितिभइठनउदयोनि(?) इन्दौ तु मेषे।
भूपः श्रीवैरिसिंहः स(सु ?) रवरभवने कारयत्सुप्रतिष्ठा–
मृत्विग्भिर्वेदविद्भिर्नृपतिभिरनिशं वन्दिताङ्घ्र्यब्जयुग्मः ॥ ६ ॥

(S. R. Bhandarkar's Second Report,
1904-5 and 1905-6, Page 65.)

† इन ४ भाईयो नें अनेकानक सुकृत कर अपने न्यायोपार्जित द्रव्य का सदुपयोग किया था। सं. १४८७ में इन्हो ने जैसलमेर से, शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा के लिये संघ निकाला था और सं. १४९० में, पञ्चमी–तप का उद्यापन किया था।

" विक्रमवर्षचतुर्दशसप्ताशीतौ विनिर्ममे यात्रा।
शत्रुंजयरैवतगिरितीर्थे सद्भ्रान्वितैरेभिः ॥ २ ॥
पञ्चम्युद्यापनं चक्रे वत्सरे नवतौ पुनः।
चतुर्भि बन्धिवैरेभिश्चतुर्धा धर्मकारकैः ॥ ३ ॥ "

वस्त्रादि भेंट कर उन का खूब स्वागत किया था। राउल श्री वैरिसिंहजी का भी बहुमूल्य वस्तुओं द्वारा अच्छा सन्मान किया था जिस के बदले में उन्हों ने भी इन चारों भाईयों को, विविध प्रकार के वस्त्र और आभूषणादि दे कर अपना प्रेम प्रदर्शित किया था। यह बात इसी प्रशस्ति के अंत में लिखी हुई है।

अथ संवत् १४९४ वर्षे श्रीवैरिसिंहराउलराज्ये श्रीजिनभद्रसूरीणामुपदेशेन नवीनः प्रासादः कारितः। ततः संवत् १४९७ वर्षे कुंकुमपत्रिकाभिः सर्वदेशवास्तव्यपरःसहस्रश्रावकानामन्त्र्य प्रतिष्ठामहोत्सवः सा० शिवाद्यैः कारितः। तत्र च महसि श्रीजिनभद्रसूरिभिः श्रीसंभवनाथप्रमुखबिम्बानि ३०० प्रतिष्ठितानि प्रासादश्च ध्वजशेखरः प्रतिष्ठितः। तत्र संभवनाथो मूलनायकत्वेन स्थापितः। तत्र चावसरे सा० शिवा-महिश-लोला-लापणश्राद्धैः दिन ७ साधर्मिकवात्सल्यं कृतं राउलश्रीवैरिसिंहेन सार्कं श्रीसङ्घो विविधवस्त्रैः परिधापितः। राउलश्रीवैरिसिंहेनापि चत्वारस्ते बान्धवाः स्वबान्धववद्वस्त्रालंकारादिदानेन सन्मानिता। इति।

(S. R. Bhandarkar's Second Report,
1904-5 and 1905-6, P. 97.)

इस प्रकार इन्हों ने अनेक स्थानों पर बड़े बड़े जिन मन्दिरं बनवाये, प्रतिष्ठा महोत्सव करवाये और हजारों जिनबिम्ब प्रतिष्ठित किये थे। इन की प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के अनेक लेख मेरे पास हैं परन्तु उन के यहां पर देने की कोई आवश्यकता नहीं केवल ऊपर दिये गये इसी एक लेख से, सब का दिग्दर्शन हो जाता है।

जिनभद्रसूरि और पुस्तक-भाण्डागार।

जिनभद्रसूरि ने अपने जीवन में सब से अधिक महत्त्व का और विशिष्टत्व वाला जो कार्य किया है वह भिन्न भिन्न स्थानों में विशाल पुस्तकालय स्थापन कराने का है।

इन्हों ने जैसे और जितने शास्त्र-भाण्डार स्थापित किये-कराये वैसे शायद ही अन्य किसी आचार्य ने किये-कराये हों। इस ग्रंथोद्धार-कार्य के प्राचुर्य में इन के और सुकृत्य मानों गौण हो गये थे। पिछले कितने ही विद्वानों ने तो, इन का उल्लेख करते समय इस कृत्य को विशेषण तया उल्लिखित किया है। वाचनाचार्य श्रीगुणविनयगणि ने, अपने 'संबोधसत्तरि' के विवरण के अन्त की प्रशस्ति में इन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

श्रीज्ञानकोशलेखनदक्षा जिनभद्रसूरयो मुख्याः।
तत्पट्टे सञ्जातास्ततोऽद्युतन् दिव्यगुणजाताः॥ १७॥

वाचक श्रीसमयसुन्दरगणि ने, अपनी "[1]अष्टलक्षी" अथवा "अर्थ रत्नावली" की प्रशस्ति में लिखा है कि—

श्रीमज्जेसलमेरुदुर्गनगरे जावालपुर्यां तथा
श्रीमद्देवगिरौ तथा अहिपुरे श्रीपत्तने पत्तने।
भाण्डागारमबीभरद्वरतरैर्नानाविधैः पुस्तकैः
स श्रीमज्जिनभद्रसूरिसुगुरुर्भाग्याद्भुतोऽभूद्भुवि॥ २१॥

(Professor P. Peterson's Fourth Report, Page 12.)

पाटन के वाडीपुर-पार्श्वनाथ के मंदिर की प्रशस्ति में भी इस बातका उल्लेख है—

"स्थान(ने) स्थान(ने) स्थापितसारज्ञानभाण्डागारश्रीजिनभद्रसूरि—"

(Epigraphia indica, Vol, I, XXXVII.)

---

१ इस पुस्तक में "राजानो ददते सौख्यम्" इस एक वाक्य के जुदा जुदा प्रकार से आठ लाख अर्थ किये गये हैं।

जिनभद्रसूरि के पूर्वमें तो बहुत करके ताड़पत्रों पर ही ग्रंथों के लिखनेकी प्रथा थी परन्तु इन के समय में इस प्रथा में एकदम बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। इनके समय में चाहे तो ताड़पत्रों की प्राप्ति दुर्लभ हो गई हो चाहे कागज़ो की प्रवृत्ति विशेष बढ़ गई हो, कुछ भी हो, परन्तु इस अर्से में ताड़पत्रों पर लिखना एकदम बन्ध हुआ और उनका स्थान कागज़ों को मिला। ताड़पत्र पर जितने पुराणे ग्रंथ लिखे हुए थे उन सब की नकलें इस समय में कागज़ पर की गई थीं। गुजरात और राजपूताने के प्रसिद्ध भाण्डारों के ताडपत्रों का इसी एक ही समय में, एक साथ, जीर्णोद्धार हुआ था। पाटन और खंभात के ग्रंथों का कागज़ी संस्करण तो इधर तपागच्छ के आचार्य देवसुन्दर और सोमसुन्दरसूरि की मंडली ने किया था और उधर जैसलमेर के शास्त्रों का समुद्धार, खरतरगच्छके अधिपति जिनभद्रसूरि की मण्डली ने किया था। ऐतिहासिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इस समयमें पुस्तकोद्धार के कार्य का प्रवाह अति तीव्र वेग से बहने लगा था। इस १५ वीं शताब्दी के मध्य और अन्त में कोई लाखों प्रतियें लिखी गई थीं।

जैसलमेरका प्रदेश, मरुस्थल होने के कारण बहुत विषम है इस लिये गुजरात की अपेक्षा, मुसलमानों के उद्वेगजनक आक्रमण वहां पर कम होते थे। इस स्थितिका विचार कर, पुराने आचार्यों ने गुजरात में से बहुत सी पुस्तकें वहां पर पहुंचा दी थीं। ये पुस्तकें वहां पर बडे प्रयत्न से संरक्षित रक्खी गई थीं। जैसलमेर खरतरगच्छ का प्रधानस्थान था। जिनभद्रसूरि इस गच्छ के नेता थे इस लिये ये सब पुस्तकें इनके स्वाधीन थीं। तपागच्छीय समुदाय द्वारा गुजरात के भाण्डारों के उद्धार होने की बात जिनभद्रसूरि के सुनने में आई तो इन्हों ने भी जैसलमेर के शास्त्र-संग्रह के उद्धार करने का संकल्प किया। अनेक अच्छे अच्छे लेखक इस काम के लिये रोके गये और उन के द्वारा ग्रंथों की, ताडपत्रों पर से कागज़ों पर नकलें कराई जाने लगीं। जिनभद्रसूरि स्वयं जुदा जुदा प्रदेशों में फिर कर श्रावकों को शास्त्रोद्धार का सतत उपदेश देने लगे। इस प्रकार

सं. १४७५ से ले कर १५१५ तक के ४० वर्षों में हजारों-वल्के लाखों-ग्रंथ लिखवाये और उन्हें भिन्न भिन्न स्थानों में रख कर अनेक नये पुस्तक-भाण्डार कायम किये।

इन्हों ने अपने उपदेश से ऐसे कितने भाण्डार तैयार करवाये इस की पूरी संख्या ज्ञात नहीं हुई। ऊपर दिये हुए 'अग्रलर्ष्ण' के प्रशस्ति-पद्यसे जैसलमेर, जावालपुर, देवगिरि (दौलताबाद), अहिपुर और पाटन इन ५ स्थानों के भाण्डारों का तथा मंडपदुर्ग (माँडव गढ़), आशापल्ली या कर्णावती और खंभायत इन तीन और अन्य भाण्डारों का उल्लेख मिलता है। इन भाण्डारों में से वर्तमान में, केवल एक ही भाण्डार ठीक ठीक हालत में, उपलब्ध है-जो पाटन के वाडीपुर-पार्श्वनाथ के मंदिर में संरक्षित है। यद्यपि, इस में की पुस्तकों का भी अधिकांश भाग इधर उधर हो गया है तथापि उल्लेख करने योग्य पुस्तकें अब भी बहुत कुछ विद्यमान हैं। इस में सब मिलाकर वर्तमान में ७५० लगभग पुस्तकें हैं जो न्याय, व्याकरण, काव्य, साहित्य और धर्म आदि प्रथक् प्रथक् विषयों के साथ ताल्लुक रखतीं हैं। इस में कितने ही तो ऐसे अपूर्व ग्रन्थ हैं जो अन्यत्र कहीं नहीं दृष्टिगोचर होते। इस के अधिकांश ग्रंथ एक ही नाप के कागज़ों पर, एक ही जैसे अक्षरों में लिखे हुए हैं। प्रायः कर के हर एक पुस्तक के अंत में जिनभद्रसूरि का जिक्र और जिस श्रावक ने उसे लिखवाई, उस का उल्लेख किया हुआ है। उदाहरण के लिये नमूने लीजिए—

" सं. १४८४ वर्षे श्रीजिनराजसूरिपट्टालंकारसारश्रीजिनभद्रसूरिगुरूणामुपदेशेन श्रीउकेशवंशे धोरवाडशाखायां महं॰ लखमसिंहसुता महं॰ हरिराज-खेता-पद्मा-वीराभिधा जाताः। तत्र पद्माकस्य साधु जिनराज-साधुनोडा-साधुधणपतिनामानो विजयन्ते। तत्र जिणराजपुत्राभ्यां जासलदेवीकुक्षिसंभूताभ्यां सा॰ वज्रांग-सा॰ समरसिंहाभ्यां सा॰ वज्रांगसुत-समधर-श्रीराज सहिताभ्यां श्रीमदणहिल्लपत्तननगर-

भाण्डागारे श्रीबृहत्कल्पटीका स्वपितृसा० जिणराजपुण्यार्थं लेखयांचक्रे साधुजनैर्वाच्यमाना चिरं नन्दतात् ।"

* * * * *

"संवत् १४८१ वर्षे सिन्धुमण्डलवास्तव्य सा० घेरू पुत्र सं० सोमाकेन सा० अभयचंद्र सा० रामचंद्र प्रमुख पुत्रपौत्रादियुतेन श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिपट्टे श्रीजिनभद्रसूरिसुगुरूणामुपदेशेन श्रीआवश्यकवृत्तिटिप्पनकं लिखापितं वाचंयमैर्वाच्यमानं चिरं नन्दतात् ।"

* * * *

"संवत् १४८८ वर्षे पौषसुदिषष्ठयां सोमे अद्येह श्रीपत्तने खरतरगच्छे श्रीश्रीजिनभद्रसूरिविजयराज्ये भाण्डागारे ज्योतिष्करण्डकटिका लिखापिता । मंत्रिवहुलाकेन प्रतिः शुद्धा कृता ॥"

* * * *

इस प्रकार वहुत सी पुस्तकों के अन्त में स्मरण-लेख दिये हुए हैं। ऊपर जो मैं ने अष्टलक्षी के प्रशस्ति-पद्य में गिनाये हुए पांच भाण्डारों के सिवा तीन और भाण्डारों का उल्लेख किया है वह ऐसे ही प्रमाणों के आधार से लिखा गया है। पाटन के इसी भाण्डार में कितनीक पुस्तकें हैं जो आशापल्ली या कर्णावती के भाण्डार में समर्पित की गई थीं। उन्हें पीछे से कोई साधु, वहां से पढ़ने के लिये लाया होगा और वे फिर इस जगह रख दी गई होंगीं। इन के अन्त में भी ऊपर के से स्मरण लेख दिये हुए हैं और उन में आशापल्ली[२] का नाम लिखा हुआ है। यथा—

---

१ यह सं. सोमा, सिंधदेश के मम्मणवाहण का रहने वाला था। इसी ने सं. १४८३ में, मरुकोट्ट की यात्रा करने के लिये संघ निकाला था जिस में जयसागर-उपाध्याय भी सम्मिलित थे। (देखो, विज्ञप्तित्रिवेणि-मूल, पृ. २१.)

२ यह आशापल्ली, जिसका दूसरा नाम कर्णावती भी था, जहां पर अहमदाबाद वसा है वहां पर थी। इसी के स्थान पर अहमदशाह ने अहमदाबाद बसाया है।

" संवत् १४९३ वर्षे श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनभद्रसूरिगुरूणामुपदेशेन श्रीमालवंशे भांडियागोत्रे सा० छाडा भार्या साध्वीनी मेघू तत्पुत्र सा० समदा सा० काला सुश्रावकाभ्यां श्रीसूदा श्रीहेमराज प्रमुखपुत्रपौत्रादिपरिवारकलिताभ्यां श्रीसूर्यभज्ञप्तिटीका लेखिता । श्रीआशापल्यां पातशाह श्रीअहम्मदशाहराज्ये । "

* * * *

" सं. १४९४ वर्षे खरतर श्रीजिनभद्रसूरिगुरूणामुपदेशेन आशापल्लीनगरे श्रीमालवंशे भांडियागोत्रे सा० छाडा......... ...श्रीदशवैकालिकचूर्णिर्लेखिता । "

* * * *

पाटन और आशापल्ली के भाण्डार एक ही श्रावक के लिखाये हुए न हीं थे; किन्तु, जुदा जुदा गृहस्थों ने अपनी इच्छानुसार एक, दो; अथवा दश, बीस पुस्तकें लिखवा लिखवा कर इन में रख दी थीं। परंतु खंभायत का भाण्डार तो सारा, एक ही श्रावक ने अपनी ओर से तैयार करवाया था। इस का नाम धरणाक था। यह परीक्षगोत्रीय और इस के पिता का नाम गूजर तथा पुत्र का नाम साइया था। इस की लिखाई हुई पुस्तकों के अन्त में निम्नलिखित प्रशस्ति लेख है।

" सं० १४९० वर्षे चैत्रसुदिपंचम्यां तिथौ रविवारे श्रीमति श्रीस्थंभतीर्थे अविचलत्रिकालज्ञाज्ञापालनपटुतरे विजयिनि श्रीमत्खरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिपट्टे लब्धिलीलानिलयबन्धुरबहुबुद्धिबोधितभूवलयकृतपापपूरमलयचारुचारित्रचंदनतरुमलययुगप्रवरोपमामिथ्यात्वतिमिरनिकरदिनकरप्रसरसमश्रीमद्गच्छेशभट्टारकश्रीजिनभद्रसूरीश्वराणामुपदेशेन परीक्ष्य सा० गूजरसुतेन रेखाप्राप्तसुश्रावकेन सा० परीक्ष्य धरणाकेन पुत्र सा० साइयासहितेन श्रीसिद्धान्तकोशो लेखितः स्वश्रेयसे । "

* * * *

" सं० १४९० वर्षे चैत्रशुदि १० शनौ श्रीमति श्रीस्थंभतीर्थे श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिपट्टे श्रीजिनभद्रसूरिराज्ये सा० गूर्जरसुत सा० धरणाकेन सत्तरीवृत्तिर्लिखापिता । पु० हरीयाकेन लिखितं । शुभं भवतु । "

(Professor P. Peterson's, Fourth Report, Page 130.)

कविवर मंडन और धनदराजका ग्रंथागार ।

मालवे का माँडवगढ़ (मंडपदुर्ग) इतिहास-प्रसिद्ध स्थान है। यह शहर औरंगजेब के समय तक तो बड़ा आबाद और मशहूर था परंतु आज तो इस की वही दशा है जो गुजरात के गंधार-बन्दर की है। मॉडव या मॉडू जिस समय उन्नति के शिखरपर चढ़ा हुआ था उस समय वहां पर जैनधर्म की भी वैसी ही दशा थी। उस समय वह जैनधर्म में मालवे का केन्द्र गिना जाता था। बड़े बड़े धनाढ्य और सत्तावान् जैन वहां पर रहा करते थे । कहते हैं कि वहां पर जैनों की कोई एक लक्ष से अधिक संख्या थी । अनेक कोट्यधीश और सैंकडों लक्षाधिपति जैन इस शहर को अलंकृत करते थे। जन-श्रुति है कि इस शहरमें एक भी गरीव श्रावक न था। जो कोई बाहर से दारिद्र्य-पीडित जैन आता था तो, शहर के अच्छे अच्छे श्रीमान् एक एक रूपया, उसे सहायतार्थ देते थे। इन श्रीमानों की इतनी संख्या थी कि जिस से सहज में वह आगन्तुक दरिद्र अच्छी संपत्ति वाला बन जाता था। जैन इतिहास के देखने से पता लगता है, कि मंत्री पेथड झाँझण, जावड, संग्रामसिंह आदि अनेक श्रावक यहां पर हो गये हैं जो विपुल-ऐश्वर्य और प्रभूत-प्रभूता के स्वामी थे। इस प्रकरण के सिरे पर जिन दो भ्राताओं का नाम लिखा हुआ है वे भी ऐसे ही श्रावकों में से थे। ये श्रीमालीज्ञाति के सोनिगिरा वंश के थे। इन का वंश वडा गौरव और प्रतिष्ठावान् था। इस के वर्णन करने की यहां पर जगह नहीं। मंत्री मंडन और धनराज के पितामह का नाम झंझण था। इस के १ चाहड, २ बाह-

ड, ३ देहड, ४ पद्म, ५ आल्हा और ६ पाहु नाम के छः पुत्र थे। इन में से देहड और पद्म तो मांडवगढ के तत्कालीन बादशाह आलमशाह के दिवान थे। बाकी के अन्यान्य व्यवसायों में अग्रगण्य थे। इन ६ भाईयों के अनेक पुत्र थे जिन में से ये मंडन और धनदराज विशेष प्रसिद्ध थे। मंडन बाहड का छोटा पुत्र था और धनदराज देहडका एक मात्र लडका था। इन दोनों चचेरे भाईयों पर लक्ष्मीदेवी की जैसी प्रसन्नदृष्टि थी वैसे सरस्वती देवी की भी पूर्ण कृपा थी। अर्थात् ये बडे भारी श्रीमान् होकर विद्वान् भी वैसे ही उच्च कोटी के थे।

मंडन ने व्याकरण, काव्य, साहित्य, अलंकार और संगीत आदि भिन्न भिन्न विषयों पर, मंडन शब्दांकित अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रंथों में से आठ नौ ग्रंथ तो पाटन के ऊपरि-उल्लिखित वाडीपुर-पार्श्वनाथ के भाण्डार में, मंडन ही के (सं० १५०४ में) लिखवाये हुए, विद्यमान हैं। इन के नाम ये हैं-१ काव्यमंडन (कौरव-पाण्डव विषयक), २ चंपूमंडन (द्रौपदीविषयक), ३ कादंबरी मंडन (कादंबरी का सार), ४ शृंगारमंडन, ५ अलंकार मंडन, ६ संगीतमंडन, ७ उपसर्ग मंडन, ८ सारस्वत मंडन (सारस्वत व्याकरण ऊपर विस्तृत विवेचन.) और ९ चंद्रविजय प्रबंध। मंडन के जीवन-चरित्र के विषय में, इस के मित्र महेश्वर नाम के कवि ने काव्य-मनोहर नाम का सात सर्गों वाला एक छोटा सा काव्य लिखा है। इस में मंडन के पूर्वजों का तथा मंडन का संक्षेप में जीवन वृत्तांत उल्लिखित है। यह काव्य मंडन की विद्यमानता ही में लिखा गया है। इस की भी दो कापी-जो मंडन की लिखवाई हुई और एक ही लेखक की लिखी हुई हैं-उक्त भाण्डार में हैं।

मंडन की तरह धनदराज या धनद भी बडा अच्छा विद्वान्

---

१ यदि बन सका तो ये ग्रंथ इसी ग्रंथमाला में, भविष्य में, प्रकट करने का विचार है।

था। इस ने "धनदत्रिशती' नाम का एक ग्रन्थ राजर्षि भर्तृहरि की 'शतकत्रयी' का अनुकरण करने वाला लिखा है। प्रसंग न होने से मैं इन के विषय में विशेष-उल्लेख नहीं कर सकता तथापि इतना अवश्य कह देना चाहता हूं कि इन ग्रन्थों में इन का पाण्डित्य और कवित्व अच्छी तरह प्रकट हो रहा है।

मंडन का वंश और कुटुम्ब खरतरगच्छ का अनुयायी था। इन भ्राताओंने जो उच्च कोटि का शिक्षण प्राप्त किया था वह इसी गच्छ के साधुओं की कृपा का फल था। इस समय, इस गच्छ के नेता जिनभद्रसूरि थे इस लिये उन पर इन का अनुराग और सद्भाव, स्वभावतः ही अधिक था। इन दोनों भाईयों ने अपने अपने ग्रंथों में इन आचार्यकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। धनद ने अपनी त्रिशती में लिखा है कि—

" चिन्तामणिः संप्रति भक्तिभाजां तपस्यया त्रासितदेवनाथः।
दयोदयः प्रीणितसर्वलोकः सिद्धो गरीयाञ्जिनभद्रसूरिः॥

(नीतिधनदशतक, पद्य-९४।)

मंडन के चरित विषय का जो काव्यमनोहर है उस में भी महेश्वर कवि ने लिखा है—

" जयत्यतः श्रीजिनभद्रसूरिः श्रीमालवंशोद्भवदत्तमानः।
गम्भीरचारुश्रुतराजमानस्तीर्थाटनैः सन्ततपूतमूर्तिः॥

(काव्यमनोहर, ७ सर्ग, ३८ पद्य।)

इन भ्राताओं ने जिनभद्रसूरि के उपदेश से एक विशाल सिद्धान्त-कोश लिखाया था। यह सिद्धान्त-कोश आज विद्यमान नहीं। पाटन के एक भाण्डार में-जो सागरगच्छ के उपाश्रय में संर-

---

१ यह प्रबन्ध बंबई के, निर्णयसागर-प्रेस की, काव्यमाला के १३ वें गुच्छक में छप चुका है।

क्षित है-भगवतीसूत्र (मूलमात्र) की प्रति है जो मंडन के सिद्धान्त-कोश की है। इस प्रति के अन्त में, मंडन की प्रशस्ति है जिस में लिखा है कि—

" संवत् १५०३ वर्षे वैशाखसुदि १ प्रतिपत्तिथौ रविदिने अद्येह श्रीस्थंभतीर्थे श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिपट्टे श्रीजिनभद्रसूरीश्वराणामुपदेशेन श्रीश्रीमालज्ञातीय सं० मांडण सं० धनराज भगवती-सूत्रपुस्तकं निजपुण्यार्थं लिखापितं ।

जयति जगदाधारो देशः स मालवनामको
जयति विजितस्वर्गेदुर्गः स यत्र च मण्डपः ।
जयति विजयी यस्याधीशो महानलमाह्वयो
जयति मतिमान् यस्यामात्यः कृती पद्माभिधः ॥ १ ॥
यस्य भ्रातृषु दातृषु प्रशमिषु श्रीमत्सु धीमत्सु च
श्लाघ्यः श्लोकतमः समं समभवत् सङ्घेश्वरो बाहडः ।
यस्योदञ्चितपूर्वजन्मनिचयैः सत्साञ्चितानां महत्
पुण्यानां फलमेकमेष जयति क्ष्मामण्डनं मण्डनः ॥ २ ॥
यत्कीर्तिप्रततिर्वितत्य गगने दानोदकासेचनात्
काष्ठानां दशकस्य मण्डपतले सम्मान्ति नैवैकिकाः ।
सोऽयं सोनिगिरान्वयः खरतरः श्रीबाहडस्यात्मजः
श्रीसिद्धान्तमलेखयद् भगवतीसन्नं सुधीर्मण्डनः ॥ ३ ॥*

---

१ मंडन का वासस्थान माँडव होने से पुस्तक-भाण्डार भी वहीं स्थापित किया होना चाहिए। इस पुस्तक के खंभायत में लिखे जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि पुस्तकें सब जिनभद्रसूरि की देखरेख नीचे लिखी जाती होंगी और इन (सूरि) के, उस समय खंभायत में ठहरने के कारण यह पुस्तक वहाँ पर लिखी गई होगी।

* ये ही तीन पद्य (अंतिम पाद को छोड कर) सारस्वतमंडनकी प्रशस्ति में भी हैं। इस से ज्ञात होता है कि ये सब पद्य स्वयं मंडन ही के बनाये हुए हैं।

उद्यत्सान्द्रजिनेन्द्रसुन्दरपदद्वन्द्वप्रसादोद्भवद्-
भूयोऽभीष्टपुमर्थसार्थकजनुः श्रीमालमालामणिः ।
सोऽयं सोनिगिरान्वयः खरतरः श्रीवाहडस्यात्मजः
श्रीसिद्धान्तमलेखयच्च सकलं संघेश्वरो मण्डनः ॥ ४ ॥

श्रीमालिज्ञातिमण्डनेन संघेश्वरश्रीमण्डनेन सं० श्रीधनराज सं० खीमराज सं० उदयराज । सं० मंडनपुत्र सं० पूजा सं० जीजा सं० संग्राम सं० श्रीमाल प्रमुखपरिवारपरिवृतेन सकलसिद्धान्तपुस्तकानि लेखयां चक्राणानि ॥ श्रीः ॥

ग्रन्थरचना ।

जिनभद्रसूरि ने, विद्वत्ता के प्रमाण में ग्रन्थों की रचना की हो ऐसा प्रतीत नहीं होता । अन्यान्य आचार्यों के जैसे नये नये ग्रंथ तथा पुराणे ग्रंथों पर टीका-टिप्पनादि लिखे हुए मिलते हैं वैसे इन की कोई विशेष कृतियां उपलब्ध नहीं होतीं । कहीं पर इस विषय का उल्लेख भी नहीं देखा गया । तथापि, सर्वथा अभाव भी नहीं है । इन का वनाया हुआ एक ग्रंथ मेरे दृष्टिगोचर हुआ है । इस का नाम 'जिनसत्तरीप्रकरण' है । यह प्राकृत में गाथावन्ध है । इस की कुल गाथायें २२० हैं । इस में २४ तीर्थंकरों के पूर्वभवसंख्या, द्वीप, क्षेत्र, विजय, नगर, नाम और आयु आदि ७० वातों की सूची है इस के अन्त में इन्हों ने अपने गुरुका तथा निज का नामोल्लेख किया है ।

"गणहरसुहम्मवंसे कमेण जिणरायसूरिसीसेहिं ।
पयरणमिणं हियट्ठं रइयं जिणभद्दसूरिहिं ॥"

संभव है कि और भी कोई छोटा वड़ा ग्रंथ वनाया हो परंतु मेरे देखने-सुनने में नहीं आया ।

शिष्य-समुदाय।

जिनभद्रसूरि का शिष्यसमुदाय बहुत बड़ा और प्रभावशाली था। इन शिष्यों में से एक को, इन के पीछे कीर्तिरत्नाचार्य ने पट्टधर बनाया था। यह शिष्य, जैसलमेर के चम्मगोत्रीय सा. बच्छराज और वाल्हादेका पुत्र था। इस का जन्म सं. १४८७ में हुआ था और १४९२ में, पांचही वर्ष जैसी छोटी उम्रमें, दीक्षा ली थी-दी गई थी। आचार्यपद्वी सं. १५१४ के वैशाखवदि २ को कुंभलमेर (मेवाडराज्य के अर्वलीपहाडी वाले प्रसिद्ध स्थान) में, दी गई थी। ये पीछे से जिनचंद्रसूरि (चौथे) के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन का संक्षिप्तवृत्तांत पट्टावलि में इस प्रकार लिखा है। 2

" श्रीजिनभद्रसूरिपट्टे जिनचन्द्रसूरिः, तस्य च जेसलमेरुवास्तव्य चम्मडगोत्रीय साह वच्छराजः पिता वाह्लादेवी माता सं० १४८७ जन्म, सं० १४९२ दीक्षा सं० १५१४ वैशाखवदिद्वितीयायां कुम्भलमेरु वास्तव्य कूकडाचोपडागोत्रीय साह समरसिंहकृतनंदिमहोत्सवेन श्री कीर्तिरत्नाचार्येण पदस्थापना कृता । ततेऽर्बुदाचलोपरि नवफणापार्श्वनाथप्रतिष्ठाविधायकश्रीधर्मरत्नसूरिगुणरत्नसूरिप्रमुखानेकपदस्थापकश्रीजिनचन्द्रसूरयः सं० १५३० जेसलमेरुनगरे स्वर्गं प्राप्ताः ॥ "

२—दूसरे प्रसिद्ध शिष्य श्रीकमलसंयमोपाध्याय थे। ये भी अच्छे विद्वान् थे। इन्हों ने सं. १४७६ में दीक्षाग्रहण की थी। संवत् १५१८ में, जिनचंद्रसूरि, जिन का जिक्र ऊपर किया गया है, की आज्ञा से पूर्वदेश में विहार किया था और चंपा, साकेत (अयोध्या), कुंडपुर, काशी और राजगृह आदि तीर्थक्षेत्रों की यात्रा की थी। जिनसमुद्रसूरि-जो जिनचंद्रसूरि के बाद पट्टधर आचार्य हुए थे और जिन्हें स्वयं जिनचंद्रसूरि ने गच्छपति बनाया था-के आदेश से, इन्हों ने, १४००० श्लोक प्रमाण उत्तराध्ययनसूत्र पर टीका लिखी है। इस का संशोधन भानुमेरु वाचक ने किया है। यह सब

कथन इसी टीका के प्रशस्ति-पद्यों में लिखा हुआ है* । सं. १५११ में, सं० नगराज की पुत्री सोनाई ने, जिनवल्लभसूरि का बनाया हुआ संक्षिप्त वीर-चरित्र, सुनहरी शाही से लिख कर इन्हें समर्पण किया था। इस पर लिखा है—

"सं. १५११ वर्षे श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनभद्रसूरिशिष्य वा० श्रीकमलसंयमगणिवाचनाय सा० नगराजपुत्रिकया सोनाई श्राविकया लिखितं।"

संवत् १५२२ का चातुर्मास इन्हों ने यवनपुर (दिल्ही) में किया था। आचार्य जिनचद्रसूरि भी इस साल वहीं पर थे। इन की आज्ञा से, सं० कालिदास की स्त्री सं० हरसिणी ने, उपाध्यायजी को कल्प-सूत्र की एक प्रति भेंट की थी जो बड़े खर्च के साथ तैयार करवाई गई थी। यह पुस्तक सुवर्णाक्षरों से लिखी गई है और प्रत्येक पत्र पर नाना प्रकार के वेल-बूटे और विविध चित्र चित्रित किये गये हैं। यह दर्शनीय पुस्तक यहां (बडौदे) के "जैनज्ञानमंदिर" में, शांत-मुनिवर श्रीमान् हंसविजयजी महाराज के "शास्त्र-संग्रह" में संरक्षित है। इस के अंत में इस प्रकार उल्लेख है—

संवत् १५२२ वर्षे भाद्रपदसुदि २ शुक्रे यवनपुरे श्रीहुंसेनसाहिराज्ये। श्रीमालज्ञातीय सं० कालिदासभार्यया साधुसहसराजपुत्रिकया सं० हरसिनि श्राविकया पुत्रधर्म्मदाससहितया कल्पपुस्तकं लिखापितं। विहारितं च श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनभद्रसूरिपट्टालंकारश्रीजिनचंद्रसूरिराजादेशेन श्रीकमलसंजमोपाध्यायानां× ॥ लिखितं च गौडान्वय कायस्थ पं० कर्म्मसीहात्मजवेणीदासेन ॥ शुभमस्तु ॥

---

* कर्मस्तवविवरण नाम का एक और भी इन का बनाया हुआ ग्रंथ है जो जैसलमेर के भाण्डार में विद्यमान है। यह सं. १५४९ में रचा गया है, (देखो, जैनग्रंथावली, पृ० ११९।)

× कमलसंयम नाम के एक दूसरे भी उपाध्याय, खरतरगच्छ में, इसी अर्से में हो गये हैं। ये जिनवर्द्धनसूरि की शिष्य-सन्तति में के जिनहर्षसूरि के शिष्य थे।

२—सिद्धान्तरुचि महोपाध्यायः—जिनभद्रसूरि के शिष्यों में ये भी उच्च विद्वान् और प्रतिष्ठावान् थे। ये वे ही सिद्धान्तरुचि हैं, जिनका नाम विज्ञप्ति त्रिवेणि के १५ वें पृष्ठ पर जिनभद्रसूरि के

इन के हाथ की लिखी हुई एक पुस्तक पाटन के संघ वाले भाण्डार में है जिस पर लिखा है—

" संवत् १५७३ वर्षे प्रावृषि ऋतौ श्रावणिके मासे कृष्णपक्षे द्वितीयातिथौ सूर्यवासरे प्रातःकाले श्रीचित्रकूटकोट्टोत्तमे श्रीसंग्रामराज्ञो विजयिनि राज्ये श्रीखरतरगच्छस्वच्छे सुच्छेतरे श्रीजिनवर्द्धनसूरिपट्टे श्रीजिनचंद्रसूरयस्तत्पट्टे श्रीजिनसागरसूरयस्तत्पट्टांभोजमार्तण्डाः श्रीजिनसुंदरसूरयस्तत्पट्टोदयाद्रिनिस्तंद्रमित्राः श्रीजिनहर्षसूरयोऽभूवन् । अथ तत्पट्टसरकैरवाकरविकस्वरक्रियोद्यतेषु सांप्रतं श्रीजिनचंद्रसूरिषु निजगणाधीशत्वं कुर्वत्सु तत्सतीर्थ्यैः श्रीकमलसंयमोपाध्यायैः स्वहस्तेनैषा श्रीमहाखंडनटीका विद्यासागरीत्यभिधाना स्वस्यान्यस्य बोधायालेखितराम् । "

इन के उपदेश से पाटन की एक श्राविकाने कोटि-उद्यापन किया था और उस के निमित्त कुछ शास्त्र लिखवाये थे। इन शास्त्रों में की एक प्रति पाटन के इसी भाण्डार में है जिस के अंत में इस प्रकार स्मरण-लेख है—

" सं. १५७० वर्षे वैशाखवदिअमावस्यातिथौ भृगुवासरे अद्येह श्रीअणहिल्लपुरपत्तने ठाणांगवृत्तिर्लिखिता । सं० १५७० वर्षे श्रीबृहत्खरतरगच्छे श्रीजिनसागरसूरिपट्टे श्रीजिनसुन्दरसूरिपट्टे श्रीजिनहर्षपट्टालंकारश्रीजिनचंद्रसूरिविजयराज्ये श्रीकमलसंयमोपाध्यायानामुपदेशेन श्रीओकेशवंशे श्रीसूराणागोत्रे सं० चांपा भार्या सं० चांपलदे पुत्र सं० सहस्समल्ल भार्या सं० भीमी पुत्र सं० विजयसिंह भार्या सं० मटकू पुत्र सं० सोमा इत्यादिपरिवारयुतया भीमीश्राविकया कोट्युद्यापने श्रीठाणांगवृत्तिर्लेखयां चक्रे । "

(बॉम्बे गवर्नमेन्ट की ओर से हेमचंद्राचार्य का जो प्राकृतद्व्याश्रय छपा है उस के अंत में भी इन का उल्लेख है ।)

शिष्यों का नामोल्लेख करते हुए के जयसागरोपाध्याय ने "पं० सिद्धान्तरूचिगणि" के सामान्य विशेषणसे, उल्लिखित किया है। इस विज्ञप्तित्रिवेणि के समय बाद, पीछे से इन्हें महोपाध्याय का पद मिला था। इन्हों ने ग्यासुद्दीन बादशाह की सभा में विपक्षियों के साथ वाद कर विजय प्राप्त किया था। इन के एक शिष्य साधु-सोमगणि ने सं १५१९ में, जिनवल्लभसूरिकृत महावीर चरित्रकी टीका बनाई है जिस की प्रशस्ति में यह उल्लेख किया गया है।

श्रीखरतरगच्छेशश्रीमज्जिनभद्रसूरिशिष्याणाम् ।
जीरापल्लीपार्श्वप्रभुलब्धवरप्रसादानाम् ॥ १ ॥
श्रीग्यासदीनसाहेर्महासभालब्धवादिविजयानाम् ।
श्रीसिद्धान्तरुचिमहोपाध्यायानां विनेयेन ॥ २ ॥
साधुसोमगणीशेनाक्लेशेनार्थप्रबोधिनी ।
श्रीवीरचरिते चक्रे वृत्तिश्चितप्रमोदिनी ॥ ३ ॥

*　　*　　*　　*

चार्वी चरित्रपञ्चकवृत्तिर्विहिता नवैकतिथि[१५]वर्षे
हर्षेण महर्षिगणैः प्रवाच्यमाना चिरं जयतु ॥ ९ ॥

सिद्धान्तरुचि महोपाध्याय के एक दूसरे शिष्य विजयसोम थे। इन की सहायता से, माँडवगढ के मण्डनसेठने (ऊपर जिस मंडन कवि का उल्लेख हो चुका है वह नहीं।) शास्त्रसंग्रह लिखवाया था। यह सेठ भी बड़ा धनी और दानी था। इस ने तीर्थ यात्रा, दानशाला, जिनमंदिर, प्रतिष्ठा और उत्सव आदि कार्यों में बहुत द्रव्य खर्च किया था। इस के लिखवाये हुए ग्रंथों में का एक ग्रंथ, पाटन के सेठ हालाभाई वाले भाण्डार में है जिस पर निम्न लिखित प्रशस्ति लिखी हुई है।

१—ग्यासुद्दीन मॉडव-गढ का बादशाह और खिलजी महमूद का बेटा था। यह वाद किनके साथ और किस विषय में हुआ था इस का कुछ पता नहीं लगा।

" सं. १६३२ वर्षे आश्विनमासे मंडपदुर्गचित्कोशे श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनभद्रसूरिपट्टपूर्वाचलालंकरणतरुणतरतरणिश्रीजिनचंद्रसूरिविजयराज्ये श्रीसिद्धान्तरुचिमहोपाध्यायशिष्यविजयसोमसाहाय्येन श्रीमालज्ञातीयठकुरगोत्रे सं० जयताभार्याहीमीसुतेन श्रीजिनप्रासादप्रतिमाआचार्यादिपदप्रतिष्ठाश्रीतीर्थयात्रासत्रागाराद्यगण्यपुण्यपरंपरापवित्रीक्रियमाणनिजजन्मना स्वभुजार्जितशुक्लद्रव्यव्यूहव्ययलेखितसकलश्रीसिद्धान्तेन सुश्रावक सं०मंडनेन पुत्रसं०सीमराज सं०जाऊ पु०वीना प्रमुखसकलकुटुम्बपरिवारवृतेन श्रीभगवतीसूत्रं लेखितं श्रीपत्तने । वाच्यमानं चिरं नन्द्यात् ॥

इन के सिवा पं० पुण्यमूर्तिगणि, पं० लक्ष्मीसुंदरगणि, पं० मतिविशालगणि, पं० लब्धिविशालगणि और वा० रत्नमूर्तिगणि आदि और भी अनेक विद्वान् शिष्य थे—जिन के नाम इस विज्ञप्तित्रिवेणि (पृष्ठ १५ और ६४) में दृष्टिगोचर होते हैं—परंतु उन के विषय में कोई ज्ञातव्य-वृत्तांत ज्ञात नहीं हुआ।+

जिनभद्रसूरि की एक पाषाणमय मूर्ति, जोधपुर-(मारवाड) राज्य के खेडनगर के पास जो नगरगांव है वहां के जैनमंदिर के भूमिगृह में स्थापित है। यह मूर्ति उकेशवंश के कायस्थकुल वाले किसी श्रावक ने (नाम नहीं मिला) संवत् १५१८ में बनवाई थी।

+ जिनरंगसूरि के समय में (सं. १७०१-२०) पं. विनयवल्लभ की लिखी हुई पट्टावलि में, जिनभद्रसूरि के १८ विद्वान् शिष्य लिखे हैं।

" तस्य अष्टादश शिष्याः श्रीसिद्धान्तरुचिपाठक—श्रीकमलसंयमोपाध्यायादयो विद्वांसः । "

† भावनगर प्राचीनशोधसंग्रह, प्रथम भाग, (संवत् १९४२ में मुद्रित) पृष्ठ (परिशिष्ट) ७१.

जयसागर उपाध्याय ।



इन के जन्म-स्थान और माता-पितादि के विषय में कुछ भी वृत्तांत उपलब्ध नहीं हुआ। होने की विशेष संभावना भी नहीं है । विशेष कर इन बातों का उल्लेख पट्टावलि में हुआ करता है परंतु उस में भी केवल गच्छपति आचार्य ही के संबंध की बातें लिखी जाने की प्रथा होने से इतर ऐसी व्यक्तियों का विशेष हाल नहीं मिल सकता । ऐसा व्यक्तियों के गुर्वादि और समयादि का जो कुछ थोडा बहुत पता लगता है वह केवल उन के निज के अथवा शिष्यादि के बनाये हुए ग्रंथों वगैरह की प्रशस्तियों का प्रताप है। यदि इस प्रकार की प्रशस्तियें न मिलें तो फिर उन के विषय चाहे जितने इधर उधर गोते लगाये फिरो, कुछ भी हाथ नहीं आता।

उपाध्याय जयसागरजी के किये हुए ग्रंथों के अवलोकन से ज्ञात होता है, कि इन के दीक्षा-गुरु जिनराजसूरि थे (जिन का जिक्र ४७ वें पृष्ठ पर किया गया है)। अर्थात् जिनभद्रसूरि के ये गुरु-बन्धु थे। इन्हें विद्याभ्यास जिनवर्द्धनसूरि ने कराया था। वे इन के विद्यागुरु थे। उपाध्याय-पद जिनभद्रसूरि की ओर से इन्हें दिया गया था। संवत् १५०३ में, प्रल्हादनपुर (पालनपुर-उत्तरगुजरात) में, माल्हा श्रावक की वसति (उपाश्रय) में रह कर, अपने शिष्य सत्यरुचि की प्रार्थना से इन्हों ने "पृथ्वीचंद्रचरित्र" नाम का एक कथा-ग्रंथ लिखा है जिस की प्रशस्ति में इन बातों का संक्षेप में जिक्र किया है। यथा—

तत्पट्टशाड्वलवृक्षः स्थलकौस्तुभसन्निभः ।
श्रीजिनराजसूरीन्द्रो योऽभूद्दीक्षागुरुर्मम ॥ ३ ॥
तदनु च श्रीजिनवर्द्धनसूरिः श्रीमानुदैदुदारमनाः ।
लक्षणसाहित्यादिग्रन्थेषु गुरुर्ममप्राथितः ॥ ४ ॥
श्रीजिनभद्रमुनीन्द्राः खरतरगणगगनपूर्णचन्द्रमसः ।

ते चोपाध्यायपदप्रदानतो मे परमपूज्याः ॥ ९ ॥
श्रीजयसागरगणिना तेन मया वाचकेन शुचि वाच्यम् ।
पृथ्वीचन्द्रचरित्रं विरचितमुचितप्रविस्तारम् ॥ ६ ॥
प्रल्हादनपुरनगरे त्रिनिन्दुतिथिवत्सरे कृतो ग्रन्थः ।
माल्हाश्रावकवसतौ समाधिसन्तोषयोगेन ॥ ७ ॥
अभ्यर्थनया सत्पुरुषैर्बभूव साहाय्यकारी गणिरत्नचन्द्रः ।
उपक्रमोऽयं फलवान् ममाभूत् क्रिया हि सहायकसव्यपेक्षया ॥८॥

[जिस समय यह ग्रंथ लिखा गया उस समय जयसागरजी जिनभद्रसूरि के पक्ष में थे और जिनवर्द्धनसूरि का समुदाय इन्हें प्रतिपक्षी गिनता था तो भी पूर्व-उपकार (विद्यागुरु होने से) के कारण इन्हों ने जिनवर्द्धनसूरि के गुणों की अच्छी प्रशंसा की है । इस से इन की गुणग्राहकता का अच्छा परिचय मिलता है ।]

उपाध्याय-पद इन्हें कब दिया गया इस का कहीं उल्लेख नहीं मिला परंतु अनुमान होता है, कि सागरचंद्राचार्य ने जिनवर्द्धनसूरि के स्थान पर जब सं० १४७५ में जिनभद्रसूरि को स्थापन किया था तभी इन को भी—अपने पक्ष में लेने के लिये—उपाध्यायपद प्रदान किया गया होगा। क्यों कि सं० १४७८ में इन्हों ने जो ' पर्वरत्नावली " कथा लिखी है उस में ये अपने को उपाध्याय-विशेषण-विशिष्ट लिखते हैं।

श्रीखरतरगच्छेशाः श्रीजिनराजसूरयः ।
तच्छिष्यः श्रीउपाध्यायः किंचिज्ज्ञो जयसागरः ॥
अपि च दिग्गजसप्तचतुःसितद्युतिमिते परितः परिवत्सरे ।
नगरपत्तनमेत्य समर्थिता जयतु धर्मकथा जिनशासने ॥

उपर्युक्त ' पृथ्वीचंद्र चरित्र ' और ' पर्वरत्नावली ' के सिवा

'संदेहदोलावलीलघुटीका' 'उपसर्गहरस्तोत्रवृत्ति', 'गुरुपारतंत्र्य-वृत्ति' आदि और भी छोटे बड़े अनेक ग्रंथों की इन्हों ने रचना की है।

जुदा जुदा तीर्थंकरों, तीर्थक्षेत्रों और प्राचीन ऋषिमुनियों के गुणानुवाद करने वाले ऐसे प्राकृत, संस्कृत और प्रचलितदेशभाषा में अनेक प्रकार के स्तवन-स्वाध्याय भी इन के बनाये हुए उपलब्ध होते हैं। प्रवर्तकजी महाराज के शास्त्रसंग्रह में एक प्राचीन (अधुरी) पुस्तक है जिस में इन की ऐसी बहुतसी कृतियों का एकत्र संग्रह किया हुआ है। इस संग्रह में एक "तीर्थराजीस्तवन" है जिस में उन सब तीर्थों का उल्लेख है जो इन्हों ने फिर फिर कर उनके दर्शन किये थे। फरीदपुर से सं. सोमा के संघ के साथ जा कर नगरकोट्ट वगैरह जिन तीर्थों की यात्रा की थी और जिन का वर्णन इस विज्ञप्तित्रिवेणि में है उन का भी उल्लेख इस स्तवन में किया हुआ है। लिखा है—

---

१ यह टीका सं. १४९५ में बनाई गई थी। इस की प्रथम प्रति सोमकुंजर नामके इन के शिष्य-जिस का नाम वि. त्रि. के पृष्ठ १७ और ६३ में दृष्टिगोचर होता है-ने लिखी थी। इस का संशोधन स्वयं जिनभद्रसूरि ने किया था। अंतमें लिखा है कि—

जैनेन्द्रागमतत्त्ववेदिभिरभिप्रेतार्थकल्पद्रुभिः
सद्भिः श्रीजिनभद्रसूरिभिरियं वृत्तिर्विशुद्धीकृता।
तद्वत्तार्किकचक्रिभिः श्रुतपथाध्वन्यैर्महावादिभिः
प्रामाण्यं गमिता विचार्य च तपोरत्नैः पुरावाचकैः॥

सोमकुञ्जरनामास्ति विनेयो विनयी हि नः।
न्यधित प्रथमादर्शे ग्रन्थमेनमनाकुलः॥

विक्रमतः पञ्चनवत्यधिकचतुर्दशशतेषु वर्षेषु।
ग्रथितेयं श्लोकैरिह पञ्चदशशतानि सार्द्धानि॥

अपि च नगरकोट्टे देशजालन्धरस्थे
प्रथमजिनपराजः स्वर्णमूर्तिस्तु वीरः ।
खरतरवसतौ तु श्रेयसां धाम शान्ति-
स्त्रयमिदमभिनम्याह्लादभावं भजामि ॥ १८ ॥

आनन्दाश्रुजलाविले मम दृशौ जाते चिरोत्कण्ठया
दिष्ट्या कङ्गटकस्थितः प्रथमतो दृष्टो यदादिप्रभुः ।
तत्किं साऽपि सरस्वती स च गुरुर्नूनं प्रसन्नो यतो
जिह्वा तद्गुणवर्णनादभिनवान्नाद्यापि विश्राम्यति ॥ १९ ॥

श्रीगोपाचलतीर्थे शान्तिं, कोटिल्लके परं पार्श्वम् ।
नन्दनवन-कोटीपुरपूज्यं प्रणमामि वीरमहम् ॥ २० ॥

एते तेषु सपादलक्षगिरिषु प्रत्यक्षलक्ष्याः खलु
क्षेमा एव मया चतुर्विधमहासङ्घेन चाभ्यार्चिताः ।
प्रायः काञ्चनकुम्भशोभितगुरुप्रासादमध्यस्थिताः
सान्द्रानन्दपदं दिशन्तु मम ते विश्वत्रयस्वामिनः ॥ २१ ॥

इस के सिवा इस संग्रह में एक और स्तवन है जिस में खास नगरकोट्ट ही के चैत्यों का वर्णन है (देखो परिशिष्ट नं. १) । संवत् १४८७ के वर्ष में इन्हों ने उत्तरगुजरात और सौराष्ट्र के सब तीर्थ-स्थलों की यात्रा की थी । इस यात्रा का प्रारंभ पाटन (अणहिल्लपुर) से हुआ था और वडली, रायपुर, महसाणा, कुंयरगिरि (जिसे आज कल "कुणगेर" कहते हैं), सलखणपुर (संखलपुर), धंधूका आदि स्थानों में हो कर शत्रुंजयतीर्थ की यात्रा की गई थी । वहां से फिर तलाक्षा, दाठा, घृतकल्लोल, मेलिगपुर, अजाहर, दीव, ऊना, कोडि-नार, प्रभासपाटण, चोरवाड, वेरावल, और मांगलोर आदि स्थानों के जिनमंदिरों की यात्रा कर गिरनार तीर्थ के दर्शन किये गये थे । गिरनार से वापस गुजरात का रस्ता लिया गया और वढवाणा चूडा, राणपुर, वीरमगाम, मांडल, सीतापुर, पाटडि, झिंझुवाडा

इत्यादि गाँवों मे हो कर, हांसलपुर में इस तीर्थाटन की समाप्ति की गई थी। इस यात्रा के स्मरणार्थ भी एक स्तवन उपाध्यायजी ने बनाया है सो भी इस संग्रह में संगृहीत है (देखो परिशिष्ट नं. २)।

जिनभद्रसूरि ने जो ग्रंथोद्धार का महान् कार्य प्रारंभ किया था उस में जयसागरजी का भी पूर्ण हाथ था। इन्हों ने भी अपने उपदेशद्वारा श्रावकों को प्रतिबोध कर कर हजारों पुस्तकों का पुनर्लेखन करवाया था। इन के उपदेश से लिखे गये भी अनेक ग्रंथ पाटन के ऊपर्युक्त भाण्डागार में विद्यमान हैं जिन पर निम्नप्रकार के स्मरण-लेख लिखे हुए हैं।

संवत् १४ चैत्रादि ९५ वर्षे चैत्रमासे कृष्णपक्षे पंचम्यां तिथौ सोमदिने धवलकपुरप्रत्यासन्नमुफरेपुरग्रामे व्यवहारचूर्णैः पुस्तकं लिखितमिदं । श्रीखरतरगच्छेशश्रीजिनभद्रसूरीणां श्रीआशापल्लीकोशसत्के श्रीमन्महोपाध्यायजयसागरैर्लिखापितं ॥

* * * *

संवत् १४९७ वर्षे खरतरगच्छाधीशश्रीजिनराजसूरि शिष्य श्रीजयसागरोपाध्यायोपदेशेन सा० सरवण भार्या सियाणी तत्पुत्रिकया श्रीजिनधर्मंमर्म्मामकर्पूरचूरवासितहृदयया फुल्लूश्राविकया शास्त्रमिदं लेखयां चक्रे श्रीपत्तने वाच्यमानं चिरं नंदतु ॥

शिष्य-समूह।

जिनभद्रसूरि की तरह जयसागर उपाध्याय के भी अनेक शिष्य थे और विद्वान् भी बहुत से थे। विज्ञप्तित्रिवेणि से मालूम होता है कि इन के प्रथम शिष्य पं० मेघराजगणि थे। यद्यपि इन का बनाया हुआ कोई ग्रंथ मेरे देखने में नहीं आया तथापि विज्ञप्तित्रिवेणि में (पृष्ठ ४२-४५) नगरकोट्ट के आदिनाथ भगवान् की स्तवनानिमित्त २४ काव्यों का हारचित्रबंध-स्तोत्र जो इन का बनाया हुआ है उस के

देखने से पाठक जान सकते हैं कि ये अच्छे विद्वान् थे । सोमकुंजर नाम के दूसरे शिष्य भी इन्हीं के जैसे विद्वान् प्रतीत होते हैं। वि० त्रि० के पृष्ठ ६१ से ६३ तक में जो द्विव्यंजन, रसनोपमा आदि विविध आलंकारिक पद्य हैं वे इन्हीं के बनाये हुए हैं । जैसलमेर के संभव-नाथ-मंदिर की बृहत्प्रशस्ति भी, जिस का कुछ भाग ऊपर-पृष्ठ ५३ और ५६ पर-दिया गया है, इन्हीं की रचना है* । स्थिरसंयम नामक शिष्य के भी किये हुए ६-७ पद्य वि० त्रि० के ६३ वें पृष्ठ पर नजर आते हैं । इन के सिवा +सत्यरुचिगणि, पं० मतिशीलगणि आदि शिष्य, जिन का नाम वि० त्रि० (पृ. १७) में हैं, के विषय में कोई उल्लेख-योग्य बात जानी नहीं गई ।

❀ प्रसिद्ध शिष्य तथा उनकी संतति । ❀

जयसागरजी के शिष्यों में से अधिक प्रसिद्ध शिष्य रत्नचंद्र॰ थे । ये वही रत्नचंद्र हैं जिन का जिक्र वि० त्रि० में-पृष्ठ १७, २१ और ५५ पर -क्षुल्लक (नवदीक्षित) के विशेषण से किया गया है । इस विशेषण से मालूम होता है कि सं० १४८४ के लगभग ही इन्हें

---

* S. R. Bhandarkar's Report of a Second Tour in Search of Sanskrit manuscripts made in Rajputana and Central India in 1904-05 and 1905-06, P. 66.

+ सत्यरुचि की प्रार्थना से " पृथ्वीचंद्र चरित्र "-जिस के प्रशस्ति पद्य ऊपर दिये गये हैं-जयसागरजी ने बनाया था ।

॰ इन के अध्ययन निमित्त सं० १५०१ में क्रियारत्न समुच्चय नाम का व्याकरण-विषयक ग्रंथ जयसागरजी ने लिखा था जो आज तक पाटन के भांडार में संचित है । इस पर लिखा हुआ है कि—

सं० १५०१ वर्षे पोषसुदि ११ रवौ श्रीखरतरगच्छेशश्रीजिनराजसूरिशिष्याणु उपाध्याय श्रीजयसागराणामुपदेशेन सच्छिष्यरत्नचंद्रपठनार्थं परोपकारधियाऽयं सर्वानकः क्रियारत्नसमुच्चयो नामा ग्रंथोऽलेखि ।

दीक्षा स्वीकार की होगी। क्रम से इन्हों ने शास्त्राभ्यास में उत्तरोत्तर अच्छी प्रगति की और थोडे ही समय में ऊंचे दर्ज़े के विद्वान् बन गये। 'पृथ्वीचंद्र चरित्र' की प्रशस्ति में स्वयं जयसागरजी ने लिखा है कि गणि रत्नचंद्र की सहायता से यह कार्य सफलता को पहुंचा है। (देखो ऊपर पृष्ठ ७२).

योग्यता और अवस्था को प्राप्त होने पर पीछे से इन्हें भी गच्छपति की ओर से उपाध्याय पद समर्पित किया गया था। उपाध्याय पद बहुत कर के जिनभद्रसूरिने दिया होगा। क्यों कि, इन के विषय के जितने उल्लेख, इस पद विशिष्ट, मिले हैं उन में सब से पहले की साल १५२१ की है* इस लिये १५२१ के पहले और १५१५ के पीछे अर्थात् इन ७ वर्ष के बीच में–इन्हें उपाध्याय पद मिला होगा और इस समय गच्छपति जिनचंद्रसूरि ही थे इस लिये उन्हीं के द्वारा वह दिया गया होने का अनुमान मिथ्या नहीं होगा। इन की संतति का संतान दीर्घ काल तक चला और उस में अनेक अच्छे अच्छे विद्वान् हुए। १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में खरतरगच्छ में श्रीवल्लभ नाम के जो उपाध्याय और प्रसिद्ध ग्रंथकार हो गये हैं वे इन्हीं की संतति में से थे। श्रीवल्लभ ने, हैमलिंगानुशासनदुर्गपदवृत्ति, अभिधानचिन्तामणिव्याख्या, शिलोञ्छव्याख्या, विजयदेवमहात्म्य इत्यादि अनेक ग्रंथों की रचना की है। शिलोञ्छव्याख्या के अंत की प्रशस्ति में इन्हों ने अपनी गुरुपरंपरा इस प्रकार लिखी है:—

---

* यह उल्लेख, पाटन के वाडीपुर–पार्श्वनाथ के भांडार में "सिद्धहैम व्याकरण" की पुस्तक है उस पर किया हुआ है। यथा—

सं० १५२१ वर्षे शीरोही वास्तव्य उकेशवंशीय माल्हूगोत्रीय साह सहसा भार्या सोनलदे पुत्र साह ईला सुश्रावकेण भ्रातृ सेला चांपा पुत्र पद्मा जिनदास प्रमुखपरिवारसहितेन श्रीखरतरगच्छे श्रीजयसागरमहोपाध्यायशिष्य श्रीरत्नचंद्रोपाध्यायानामुपदेशेन श्रीसिद्धहैमलक्षणबृहद्वृत्तिकक्षापट्टग्रंथोऽलेखि ॥

शुशुभिरे जिनराजमुनीश्वराः खरतराह्वगणाऽऽदिवाकराः।
तदनुभूरिगुणा जयसागरा जगति रेजुरनुत्तमपाठकाः ॥ ७ ॥
तेषां शिष्या मुख्या दक्षा आसन्नदुष्प्यगुणलक्ष्याः ।
श्रीरत्नचन्द्रनामोपाध्यायाः साधुपरिधायाः ॥ ८ ॥
तत्पट्टस्फुटपद्मप्रकाशनोदारसूरसङ्काशाः ।
श्रीभक्तिलाभनामोपाध्यायाः शास्त्रकर्त्तारः ॥ ॥ ९ ॥
धीमन्तोऽन्तिपदस्तेषां कलाकौशलपेशलाः ।
समजायत राजन्तो ग्रन्थार्थाम्भोधिपारगाः ॥ १० ॥
चारित्रसारपाठक–भावाकर–सद्गणीश्वरा दक्षाः ।
श्रीचारुचन्द्र–वाचकधुर्याः स्मार्या मुनीशानाम् ॥ ११ ॥
तेषां क्रमशः पट्टव्योमाङ्गणशीतरश्मिसङ्काशाः ।
श्रीभानुमेरु–वाचक–जीवकलश–कनककलशाह्वाः ॥ १२ ॥
तत्र चारित्रसाराख्या उपाध्याया महाशयाः ।
बभूवुः श्रुतपाथोधिपारीणाः साधुवृत्तयः ॥ १३ ॥
तत्पट्टे समभूवन् विलसत्संवेगरङ्गसँल्लीनाः ।
वाचकपदमग्नाः श्रीमन्तो भानुमेर्वाह्वाः ॥ १४ ॥

* * * *

जयन्ति क्ष्मायां समयकथितज्ञानविमला–
श्चिरं चच्चरपाठकपदवरा ज्ञानविमलाः।
लसत्तत्पट्टे वचनरचनारञ्जितजना
महावादिव्राजप्रमितिकथनावाप्तविजयाः ॥ १६ ॥
वैराग्यरससँल्लीना तद्गुरुभ्रातरोऽधुना ।
विजयन्ते महान्तस्तेजोरङ्गगणीश्वराः ॥ १७ ॥
तेषां जयन्ति जयिनः मुनया विनेयाः

सद्भाग्यधेयमतिमत्प्रतिवाधजेयाः ।
श्रीज्ञानसुन्दरसुधी–जयवल्लभाद्या
वाग्देवताप्रतिमसत्प्रतिभाप्रधानाः ॥ १८ ॥
श्रीज्ञानविमलपाठकसत्पदाम्भोजचञ्चरीकेण ।
श्रीवल्लभेन रचिता शिलोञ्छशाले शुभटीका ॥ १९ ॥

इन श्लोकों का तात्पर्य केवल यह है कि—जिनराजसूरि के शिष्य जयसागर उपाध्याय हुए। उन के शिष्य रत्नचंद्र उपाध्याय और उन के शिष्य शास्त्रों के कर्ता ऐसे भक्तिलाभ उपाध्याय हुए*। भक्तिलाभ के शिष्य †चारित्रसारादि और उन के शिष्य भानुमेरु आदि हुए। भानुमेरु के दो शिष्य थे–१ ज्ञानविमलपाठक और २ तेजोरंगगणि। ज्ञानविमलपाठक के विद्वान् और विनयवान् ऐसे ज्ञानसुंदर, जयवल्लभ और श्रीवल्ल नाम के शिष्य हुए जिन में से श्रीवल्लभ पाठक ने इस ग्रंथ की रचना की। यदि इनका वंशवृक्ष बनाया जाय तो प्रकार होगा। (देखो सामनेका पृष्ट।)

---

* इन के लिये लिखा गया " प्राकृतव्याकरण " नाम का ग्रंथ पाटन के संघ वाले भाण्डागार में है जिस पर यह लिखा हुआ है—

सं. १५३२ वर्षे श्रीजयसागरमहोपाध्यायशिष्यरत्नचंद्रोपाध्यायराजानामुपदेशेन शिष्यभक्तिलाभाय [पठनार्थं] स्तंभतीर्थवास्तव्य श्रीमालवंशे फोफलियागोत्रे श्रे० वाछा भा० देल्हू पुत्र लापाकेन भार्या लीलादे पुत्र जागा जेसिंघादिपरिवारेण स्वपुण्यार्थं लिखापितं ॥

इन का बनाया हुआ कोइ ग्रंथ अभी तक मेरे देखने में नहीं आया। जैनग्रंथावलि (पृष्ठ २९८) में भक्तिलाभ का बनाया हुआ " बालशिक्षा व्याकरण " लिखा है और वह जेसलमेर की टीप में बताया गया है; संभव है कि वह इन्हीं का किया हुआ हों।

† चारित्रसार के पढनेके लिये लिखे गये " शशधर नामातर्कग्रंथ " (जो पाटन के सेठ हालाभाई के भांडार में संगृहीत है) के अंत में इस प्रकार उल्लेख है—

* जिनराजसूरि (स्वर्ग १४६१)

- जिनभद्रसूरि (स्व. १५१४) (मूल शाखा.)
  - जिनचंद्रसूरि (स्व. १५३०)
    - जिनसमुद्रसूरि (स्व. १५५५)
      - जिनहंससूरि (स्व. १५८२)
        - जिनमाणिक्यसूरि (स्व. १६१२)
          - जिनचंद्रसूरि (स्व. १६७०)
            - जिनसिंहसूरि (स्व. १६७४)
              - जिनराजसूरि (स्व. १६९९)
  - कमलसंयमोपाध्याय. (१)
  - सिधान्तरुचि महोपाध्याय.
    - साधुसोम.
    - विजयसोम.
- जयसागरोपाध्याय.
  - रत्नचंद्रोपाध्याय. (प्रधानशिष्य)
    - भक्तिलाभोपाध्याय.
      - चारित्रसारोपाध्याय.
        - ज्ञानविमल.
          - श्रीवल्लभपाठक.
          - ज्ञानसुंदर.
          - जयवल्लभ.
        - तेजोरंग.
      - भावसागर.
        - जीवकलश.
      - सोमचंद्र.
        - कनककलश.
  - मेघराज.
  - सोमकुंजर.
  - सत्यरुचि.
- जिनवर्द्धनसूरि. (पिप्पल खरतर शाखा)
  - जिनचंद्रसूरि.
    - जिनसागरसूरि.
      - जिनसुंदरसूरि.
        - जिनहर्षसूरि.
          - जिनचंद्रसूरि.
          - कमलसंयमोपाध्याय (२)

* इस टेबल में, प्रस्तावना में और भी जिन जिन का उल्लेख हुआ है उन सब के नाम दिये गये हैं।

श्रीवल्लभोपाध्याय के गुरु ज्ञानविमलजी भी बडे अच्छे विद्वान् थे। संवत् १६५४ में, बीकानेर (राजपूताना-मारवाड) में, कि जिस समय वहां पर राजा राजसिंहजी राज्य कर रहे थे, रह कर इन्हों ने महेश्वर कवि के किये हुए "शब्दप्रभेद" कोश ऊपर एक अच्छी विस्तृत टीका लिखी है*। इस के अवलोकन से इन के पाण्डित्य का परिचय मिलता है। इस टीका की प्रशस्ति में अपने विद्वान् शिष्य श्रीवल्लभ का भी उल्लेख किया है और लिखा है कि यह टीका उन्हीं के गाढ साहाय्य से सिद्धि को प्राप्त हुई है।

अस्मदन्तिषदो गाढसाहाय्यात् सिद्धिमागता।
विद्वच्छ्रीवल्लभाह्वयस्य युक्तायुक्तविवेचिनः॥

श्रीवल्लभोपाध्याय की कृतियों में से एक कृति बडी ध्यान खींचने लायक है। इस का नाम है विजयदेवमहात्म्य। इस में तपागच्छ के प्रसिद्ध आचार्य श्रीविजयदेवसूरि (जिनका नाम ऊपर १८

सं० १५४१ वर्षे श्रीपत्तनमहानगरे श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिशिष्य श्रीजयसागरमहोपाध्यायशिष्यशिरोमणिश्रीरत्नचंद्रमहोपाध्याय शिष्य श्रीभक्तिलाभोपाध्याय शिष्यवा० चारित्रसारगणिपठनार्थं लिखितोऽयं शशधरनामा तर्कग्रंथः॥

* इस टीका की एक प्रति, जो कि इन्हीं के उपदेश से लिखाई गई है और पाटन के सागरगच्छ के उपाश्रय में अब तक मौजूद है, उस पर इस तरह लिखा हुआ है:—

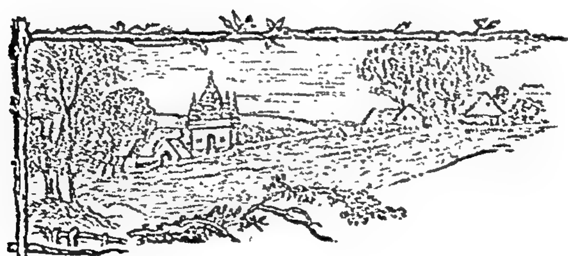
सं. १६५७ वर्षे श्रीमद्बृहत्खरतरगच्छे श्रीमेडतानगरे....... श्रीमज्जिनचंद्रसूरिविजयि राज्ये श्रीजयसागरमहोपाध्यायसंतानीय श्रीज्ञानविमलोपाध्यायानामुपदेशेन लोढाकुलावतंस संघपति जयवंत भ्रातृ सं० भीम—राजाभिधयोः पुत्ररत्नाभ्यां सं० राजसिंह सं० पुंजराजाह्वयाभ्यां शब्दप्रभेदवृत्तिप्रतिरियं लेखयित्वा विहारिता........॥

वें पृष्ठ की फुटनोट में आया है) का सविस्तर जीवनचरित्र वर्णन किया गया है। (ध्यान में रहे कि चरित्रनायक और चरित्रलेखक दोनों समानकालीन है और विजयदेवसूरि, अपने महात्म्य के निर्माण समय में विद्यमान थे।) उस समय परस्पर सांप्रदायिक विरोध इतना बढा हुआ था कि एक गच्छ वाले दूसरे गच्छ की प्रतिष्ठित व्यक्ति के गुणानुवाद करने तो दूर रहे परंतु श्रवण में भी मध्यस्थता नहीं दिखला सकते थे। अर्थात् तपागच्छ वाले खरतर-गच्छीय व्यक्ति के प्रति अपना बहुमान नहीं दिखा सकते थे और खरतरगच्छानुयायी तपागच्छ के प्रसिद्धपुरुष की प्रशंसा करते दिलमें दुःख मनाते थे। ऐसी दशामें, खरतरगच्छीय एक विद्वान् उपाध्याय के द्वारा तपागच्छ के एक आचार्य के गुणगान में बड़ा ग्रंथ लिखा जानें वाला काम अवश्य आश्चर्य उत्पन्न करता है। समाज की यह विरोधात्मक प्रकृति, श्रीवल्लभ पाठक के ध्यान से बहार न थी। वे इस बात को अच्छीतरह जानते थे कि मेरे इस—भिन्नगच्छ के आचार्य की प्रशंसा और स्तवना करने वाले ग्रंथ के लिखने रूप—कार्य से बहुत से दुराग्रही स्वसांप्रदायिक असंतुष्ट हो कर मुझ पर कटाक्ष करेंगे। इस लिये इन्हों ने ग्रंथ के अंतमें, संक्षेप में परंतु असरकारक शब्दों में लिख दिया है कि—

यदन्यगच्छप्रभवः कविः किं मुक्त्वा स्वसूरिं तपगच्छसूरेः ।
कथं चरित्रं कुरुते पवित्रं शङ्केयमार्यैर्न कदापि कार्या ॥
आत्मार्थसिद्धिः किल कस्य नेष्टा सा तु स्तुतेरेव महात्मनां स्यात् ।
आभाणकोऽपि प्रथितोऽस्ति लोके गंगा हि कस्यापि न पैतृकीयम् ॥
तस्मान्मया केवलमर्थसिद्ध्यै–जिह्वापवित्रीकरणाय यद्वा ।
इति स्तुतः श्रीविजयादिदेवः सूरिस्समं श्रीविजयादिसिंहैः ॥

अर्थात्—अन्य (खरतर) गच्छवाला कवि अपने गच्छ के आचार्यको छोड कर तपागच्छ के आचार्य का चरित्र कैसें बनाता है, यह शंका विद्वान् मनुष्यों को न लानी चाहिए। क्योंकि आत्म-

सिद्धि किसे अभीष्ट नहीं है ?-सभी को इष्ट है । यह आत्मसिद्धि महात्माओंकी स्तुति द्वारा होती है। और महात्माओं के लिये यह कोई नियम नहीं है कि वे अमुक पंथ या समुदाय में ही उत्पन्न हुआ करते हैं और यह भी कोई प्रतिबंध नहीं है कि अमुक मतानुयायी अमुक ही महात्माओं की स्तवना करें। जैसे गंगा किसी के बापकी नहीं है—सब ही उस के अमृतमय जल का पान कर सकते हैं—वैसे महात्माओं भी किसी के रजिष्टर्ड नहीं किये हुए हैं सब ही मनुष्य अपनी अपनी इच्छा अनुसार उन के गुणगान कर अपनी उन्नति कर सकते हैं। इस लिये मैंने—खरतरगच्छानुयायी हो कर भी—अपनी जिह्वा को पवित्र करने के लिये तपागच्छ के महात्मा श्रीविजयदेव-सूरि और (उनके शिष्य) विजयसिंहसूरि का यह पवित्र चरित्र लिखा है । इस विषय में किसीको उद्वेगजनक विकल्प करने की जरूरत नहीं है। वाह! कैसी उदार दृष्टि और कैसा गुणानुराग ?। यदि केवल इन ही २ पद्यों का स्मरण और मनन हमारा आधुनिक जैन समाज करें तो थोडे ही दिनों में वह उन्नति के शिखर पर आरूढ हो सकता है। शासनदेव वह दिन शीघ्र दिखावें ।



नगरकोट्ट महातीर्थ।



विज्ञप्तित्रिवेणि की दो प्रधान व्यक्तियों का-आचार्य श्रीजिनभद्र और उपाध्याय श्रीजयसागर का-अधिक परिचय दिया जा चुका। अब केवल एक प्रधानस्थान का परिचय बाकी है। वह स्थान नगरकोट्ट महातीर्थ है, कि प्रधानतः जिस की यात्रा का वर्णन इस प्रबंध में किया गया है। देखें तो अब, यह स्थान कहां पर है और इसे आज कल क्या कहते हैं?

नगरकोट्ट को आज कल काँगडा या कोट काँगडा कहते हैं। इस का आधुनिक हाल बाबू साधुचरणप्रसाद ने अपने "भारत-भ्रमण" के द्वितीय-खण्ड (पृ. ४७९.) में, संक्षेप में इस प्रकार लिखा है:—

"पंजाब के जलंधर—विभाग के काँगडा ज़िले में (३२ अंश ५ कला १४ विकला उत्तर अक्षांश; ७६ अंश १७ कला ४६ विकला) पूर्व देशांतर में काँगडा म्युनिस्पलिटी कसबा है, जिस को पहिले लोग नगरकोट कहते थे।

"सन् १८८१ की मनुष्य-गणना के समय काँगडा में ९२८ मकान और ५३८७ मनुष्य थे; अर्थात् ४४५४ हिन्दु, ८७२ मुसलमान, ९ सिक्ख और ५२ दूसरे।

"कसबा एक पहाडी के दोनों ढालू पर बसा है; यहां से बाणगंगा देख पडती है। दक्षिणी ढालू पर कसबे का पुराना भाग; उत्तरीय ढालू पर भवनकी शहर तली और महामायादेवी का प्रसिद्ध मंदिर और खडे चट्टान के सिर पर किला है; जिस में गोरखा रेजीमेंटका १ भाग रहता है। काँगडे में तहसीली, खेराती अस्पताल, स्कूल और सराय हैं। यह कसबा सुंदर नीला मीनाकारी और गहना बनने के काम के लिये प्रसिद्ध है। काँगड़ा में महामाया

देवी का मंदिर अति प्राचीन और बहुत प्रसिद्ध है; जहां दूर दूर से यात्रीगण विशेष करके नवरात्रों में देवी के दर्शन के लिये आते हैं।

"काँगड़ा ज़िलाः—इस के पूर्वोत्तर हिमालय का सिलसिला, जो तिब्बतदेश से इस को अलग करता है; दक्षिण-पूर्व वसहर और बिलासपुर के पहाडीराज्य; दक्षिण-पश्चिम होशियारपुर ज़िला और पश्चिमोत्तर चक्की नामक छोटी नदी, बाद गुरदासपुर ज़िले का पहाडी भाग और चंबा का राज्य है। काँगडा ज़िले का क्षेत्रफल पंजाब के सब ज़िलों में दूसरा याने ९०६९ वर्गमिल है; जिस में हमीरपुर, डेहरा, नूरपुर, काँगडा और कुल्लू ५ तहसील हैं। ज़िले में मैदान और पहाडी देश दोनों हैं। पहाडियों के बगलों में और उन के ऊपर जंगल लगे हैं। कई एक जंगलों में अनेक प्रकार के उत्तम जंगलीवृक्ष हैं। वनों में चिता, भालु, भेंडियाँ, बहुत हैं; बाघ भी कभी कभी देख पडते हैं और कई एक प्रकार की बनैली बिलाडियाँ हैं। काँगड़ा ज़िले में व्यास, चनाब और रावी नदियाँ निकलतीं हैं। व्यास कुल्लू के उत्तर रोहतंग पहाडियों से निकल कर लगभग ५० मील दक्षिण-पश्चिम बहने के बाद मंडी राज्य में प्रवेश करके उस को लांघती है, पश्चात्, खास काँगडा की संपूर्ण घाटियों में बहती हुई पंजाब के मैदान में जाती है। चनाब लाहुल के ढालुओं से बहती हुई मध्यहिमालय के उत्तर चंबा राज्य में प्रवेश करती है; और रावी नदी बंगहालपाटि में बहती हुई, पश्चिमोत्तर को चंबा राज्य में गई है। इस ज़िले में लोहा, शीशा, और तांबा की खानें हैं। व्यास नदी की बालू में कुछ सोना मिलता है। काँगडा और कुल्लू तहसिल में स्लेट-पत्थर बहुत है, जो अंबाले जलंधर आदि ज़िलों में मकानों की छत पटाने के लिये भेजा जाता है।"

काँगड़ा का पूर्व-इतिहास भी इस पुस्तक में संक्षिप्ततया निम्न प्रकार लिखा हैः—

" काँगड़ा कसबा पूर्व काल में कटौच राज्यकी राजधानी था। कटौच राजकुमार "तवारिखी" समय के पहिले से अंग्रेजों के

आने के समय तक काँगड़ा की घाटी पर हुकूमत करते थे। सन् १००९ ई. में गजनी के महमूद ने हिन्दुओं को पेशावर में परास्त कर के नगरकोट (काँगड़ा) का क़िला ले लिया और वहां की देवी के मंदिर के बहुत सोना, चांदी और रत्नों को लूटा, परंतु ३५ वर्ष पीछे पहाडी लोगों ने दिल्ली के राजा की सहायता से मुसलमानों से क़िला छीन लिया। सन् १३६० में फिरोज़ तोग़लक ने काँगड़ा पर चढाई की। राजा उस की आधीनता स्वीकार करके अपने राज्य पर कायम रहा; परंतु मुसलमानों ने फिर एक बार मंदिर का धन लूटा। सन् १५५६ में अकबर ने काँगड़ा के क़िले को ले लिया। मुगल बादशाहों के राज्य के समय काँगड़ा कसबे की जन-संख्या इस समय की आबादी से बहुत अधिक थी। सन् १७७४ में सिक्ख प्रधान जयसिंहने छलसे काँगड़ा के क़िले को ले लिया, जिस ने सन् १७८५ में काँगड़ा के राजपूत राजा संसारचंद को दे दिया। सन् १८०५ के पश्चात् ३ वर्ष तक गोरखों की लूट से मुल्क में अराजकता फैली रही सन् १८०९ में लाहौर के महाराज रणजीतसिंह ने गोरखों को परास्त कर के संसारसिंह को राज्याधिकारी बनाया। सन् १८२४ में संसारचंद की मृत्यु होने पर उस का पुत्र अनरुद्धसिंह उत्तराधिकारी हुआ। ४ वर्ष पीछे जब अनरुद्धसिंह उदास हो अपना राजसिंहासन छोड कर हरिद्वार चला गया, तब रणजीतसिंह ने राज्यपर आक्रमण कर के उस का एक भाग ले लिया। सन् १८४५ की सिक्ख लडाई के समय अंगरेजी सरकार ने काँगड़ा को ले लिया, परंतु क़िले पर उन का अधिकार पीछे हुआ। काँगड़ा ज़िले की सदर कचहरियां पहले काँगड़ा कसबे में थीं, परंतु सन् १८५५ में वह धर्मशाला में नियत हुई, तब से काँगड़ा कसबे की जन-संख्या तेजी से घट गई।"

काँगड़ा ज़िले को पूर्व काल में [1]जालंधर या त्रिगर्त देश कहा

१ हेमचंद्राचार्य ने अपने 'अभिधानचिंतामणि' कोश में भी ऐसा ही लिखा हैः—

जालन्धरास्त्रिगर्ताः स्युः। (काण्ड ४, श्लोक २४।)

करते थे। इन्हीं नामों से इस वि. त्रि. में भी इस का उल्लेख किया गया है (पृ० २३ और २९.) नगरकोट्ट का दूसरा पुराना नाम सुशर्मपुर भी था (देखो पृ. २३ तथा ४०)। यह नाम, कीरग्राम-जो काँगड़ा से २५ मैल दूरी पर ईशान कौन मे हैं-के शिववैजनाथ के प्रसिद्ध मंदिर की पुरानी प्रशस्तियों में भी नजर आता है *।

ऐसा प्रती होता है कि शहर का नाम नगरकोट्ट या सुशर्मपुर था और किले का नाम 'कंगदकदुर्ग' था। इसी 'कंगदक' का रूपान्तर वर्तमान में 'काँगड़ा' के रूपमें परिणत हो गया है।

'काँगड़ा' का क़िला पहले वडा रक्षक पर था । कटौच जाति के राजपूत, जो कि असली सोमवंशी क्षत्रीय थे, इस किले पर चिर काल से अपना अधिकार रखते थे। कहा जाता है, कि महाभारत के, विराटपर्व के, ३० वें अध्याय में, दुर्योधन की ओर से विराटनगर पर चढाई ले जाने वाले त्रिगर्तदेश के जिस सुशर्मनामक राजा का जिक्र है उसी ने इस नगर को वसाया था और अपने नाम की स्मृति के लिये इस का नाम "सुशर्मपुर" रक्खा था†। कटौचराजपूत इसी सुशर्म राजा की संतति हैं। म्लेच्छों के अत्याचारी आक्रमणों के सबब यह नगर अनेक वार उध्वस्त हुआ और फिर बसा। परंतु इंग्रेजीराज्य के प्रारंभ वाद यह स्थान सदा के लिये गौरवशून्य हो गया।

---

* देखो, Epigraphia Indica, Vol. I, XVI.

† विज्ञप्ति-त्रिवेणि के पृष्ठ ४२ पर नगरकोट्ट की आदिनाथ भगवान् की मूर्ति का जो ऐतिह्य वृत्तांत कहा गया है उसे भी इस कथन से पुष्टि मिलती है। क्यों कि वहां पर भी लिखा गया है, कि नेमिनाथ (२२ वें) तीर्थंकर के समय मे सुशर्म नाम के राजा ने इस मूर्ति की स्थापना की थी। संभव है कि नगर की और इस प्रतिमा की एक ही साथ स्थापना हुई हों। परंतु इस विषय में इस त्रिवेणि के सिवा और कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। इस लिये इस बात की सत्यता सिद्ध करने की चेष्टा करना निरर्थक है। तथापि इतना अवश्य सत्य है कि यह मूर्ति थी वहुत प्राचीन।

वर्तमान समय में नगरकोट्ट या कांगडे में एक भी मनुष्य जैन नहीं है। ठीक ठीक हालत में कोई जैनमंदिर भी नहीं है। जैनसमाज में से कोई यह जानता भी नहीं, कि पूर्वकाल में यह स्थान हमारा यहा तीर्थभूत था, दूर दूर का जैनसमाज इस की यात्रा करने के लीये आया करता था, सैंकडों जैनों का यह वास स्थान था, ×रूपचंद्र जैसे नृपति के बनवाये हुए जिनभुवन से अलंकृत था और नरेन्द्रचंद्र जैसा राजा जैनधर्म के साथ सहानुभूति रखता तथा जिनमूर्तियों का भावपूर्वक पूजन किया करता था। न जाने हमारे ऐसे कितने कीर्तिचिह्नों पर अंधकार के और विस्मरण के थर पर थर जमे हुए हैं-पट पर पट चढे हुए हैं।

इस विज्ञप्ति से (और परिशिष्ट नं० १ वाले " नगरकोट्ट चैत्यपरिपाटिस्तवन" से) ज्ञात हो रहा है कि पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में यहां पर, श्वेताम्बरसंप्रदाय ही के बडे बडे ४ जिनमंदिर थे। इन के सिवा दिगम्बरसंप्रदाय के भी कुछ मंदिर अवश्य होंगे। क्यों कि जनरल ए. कनींगहाम (General A. Cunningham) के कथन से, जो कि आगे लिखा जायगा, जाना जाता है, कि बादशाही जमाने में यहां की दिवानगिरि दिगंबर जैन किया करते थे। इस से संभव है कि यहां पर दिगंबर जैनों की भी वसति और कुछ मंदिर अवश्य होंगे।

इस विज्ञप्ति में, नगरकोट्ट के जिन ४ जिनमंदिरों का वर्णन है उन में का आज एक भी विद्यमान नहीं है। वे न जाने कब ही के

× राजा रूपचन्द्र ई. स. १३६० में विद्यमान था। फिरोज तोगलकने इसी वर्षमें जब कोंगड़ा पर चढाई की थी तब उसका सामना करने वाला राजा रूपचंद ही था। जनरल कनींगहामने आर्कि० सर्वे० रीपोर्ट की ५ वीं जिल्द में, (पृ० १५२ पर) त्रिगर्त-देश के राजाओं का एक कोष्टक दिया है जिस में रूपचन्द्र के बाद ७ वाँ नंबर नरेन्द्रचंद्र का है और उस की अनुमानिक स्थिति १४६५ इस्वी दी है जो विक्रम संवत् १५२१ के बराबर होती है। पर नरेन्द्रचन्द्र की ठीक तारीख, इस विज्ञप्तिपत्र से, वि. सं. १४८४ की निश्चित होती है।

भू-तल में लीन हो गये हैं। परंतु, तो भी इन के स्मृति-चिह्न कुछ कुछ अब भी विद्यमान हैं। कुछ प्राचीन जिनमूर्तियाँ आज भी, इस पूर्वकालीन वृत्तांत की सत्यता को स्पष्ट प्रकट कर रही हैं। गवर्नमेंट के पुरातत्त्व-विभाग की कृपा से हमें हमारे इन अवशिष्ट कीर्ति-चिह्नों का थोडा बहुत पता लगता है।

गवर्नमेंट के पुरातत्त्व-विभाग के डायरेक्टर जनरल सर ए. कनींगहाम सी. एस्, आई, (Sir A. Cunningham, C.S.I Director General, Archæological Survey of India) साहब ने अपनी आर्कियोलॉजीकल सर्वे ऑव इंडिया की सन् १८७२-७३ की रीपार्ट के ५ वें भाग में (Archæological Survey of India. Reports 1872-73, Vol. V.) काँगडा का संक्षिप्त प्राचीन इतिहास और वहां की प्राचीन इमारतों का कुछ हाल लिखा है। इस में उन जिनमूर्तियों का भी उल्लेख है जो वर्तमान में वहां पर विद्यमान हैं। किले में के प्राचीन देवालयों का वर्णन करते हुए (पृष्ठ १६२ में) लिखा है किः—

" किले के अंदर जो छोटे छोटे देवालय बने हुए हैं वे कीर-ग्राम के वैजनाथ और सिद्धनाथ के बड़े मंदिरों के जैसे ही हैं। इन की दिवालों का दृश्य बहार से बहुत कुछ शोभा दे रहा है। इन के अंदर एक भी स्तंभ नहीं लगाया गया। केवल चौकोने कमरे बने हुए हैं। इन के विषय में न कोई कीसी प्रकार के लेख ही मिले हैं और न कोई दंतकथायें ही जानी गई हैं। इन मंदिरों में, एक पार्श्व-नाथ का मंदिर है जिस में आदिनाथ की बडी भव्य जिनप्रतिमा स्थापित है। इस प्रतिमा की गद्दी ऊपर एक लेख है जिस की मिति संवत् १५२३ अर्थात् इस्वीसन् १४६६ की है। यह लेख प्रथम संसा-रचंद्र राजा के समय का है। कालीदेवी के मंदिर में भी पहले एक लेख था।......मैं ने जब इस मंदिर की मुलाकात ली तब मुझे यह लेख नहीं मिल सका। इस के विषय में किसी ने मुझ से कोई हाल भी नहीं कहा। सौभाग्य से, इस लेख की दो नकलें मेरे पास हैं, जो सन् १८४६ में मैंने अपने हाथ से लिख लीं थीं। इस की मिति

संवत् १५६६ और शक १४१३ है जो दोनों इ. स. १५०९ के बराबर होते हैं। इस के प्रारंभ में

" ओम् स्वस्ति श्रीजिनाय नमः "

इस प्रकार जिन को नमस्कार किया गया है+ "

....

" काँगड़ा गाँव में सब से प्राचीन मंदिर इंद्रेश्वर का है जो राजा इंद्रचंद्र का बनाया हुआ कहा जाता है। यह राजा काश्मीर के राजा अनंतदेव के समकालीन होने से इ. स. १०२८ से १०३१ के मध्य में विद्यमान होगा। यह मंदिर बहार से मात्र ९ फीट और २ इंच चौरस है। इस के दरवाजे के आगे एक कमान है जो चार स्तंभों के आधार पर टिकी हुई है। इस मंदिर के अंदर का और कमान का भू-तल, बहार की जमीन से २ फीट नीचा है जो यह बताता है, कि मंदिर के बने बाद इतनी जमीन ऊपर को चढ गई है । मंदिर के मध्य में एक सामान्य लिंग स्थापित किया हुआ है । परंतु, कमान के बहारी भाग में अगणित मूर्तियें, पंक्तिबद्ध स्थापित कर रक्खी हैं। इन में दो मूर्तियें, जो जैनों की हैं, बहुत ही प्राचीन हैं । इन में की एक मूर्ति बैठी हुई पुरुषाकृति की है जिस के दोनों हाथ खोले में रक्खे हुए हैं। इस की गद्दी पर वृषभ की आकृति खींची हुई है जो आदिनाथ का लांछन गिना जाता है। नीचे के भाग पर ८ पंक्तियों का लेख है जिस के प्रारंभ में " ओम् संवत् ३० गच्छे राजकुले सूरि "—ये शब्द हैं। अक्षरों के आकार पर से मैं समझता हूं कि यह लेख १० वीं अगर ११ वीं शताब्दी का है। इस से इस की मिति

+ यह दोनों लेख विज्ञप्तित्रिवेणि के समय के बाद के हैं इस से मालूम होता है, कि अन्य स्थानों की तरह काँगडा में भी समय समय पर नई नई प्रतिमायें और देवालय बना करते थे। इस से यह भी ज्ञात होता है कि वहां पर जैनसमुदाय की संख्या सामान्य नहीं पर विशेष रूप से थी।

९५४ या १०५४ हो सकती है। इस में *अभयचंद्र का नाम आया है और इन्द्रचन्द्र के पहले के ५ वें राजा का यह नाम था इस लिये इस की साल इ. स. १०२८ अगर १०८१ से ७५-१०० वर्ष पहले हो सकती है; अर्थात् ९५० के लगभग यह हुआ होगा।"

"दूसरी जो जैनप्रतिमा है वह इसी मूर्ति के पास में रक्खी हुई है और वैठी हुई स्त्री की आकृति की सी है। इस के भी दोनों हाथ खोले में रक्खे हुए हैं और गद्दी पर दो हाथ वाली स्त्री की आकृति की हुई है कि जिस के दक्षिण तरफ एक हाथी खडा है।"

"ये जिनमूर्तियां कमान की दिवालों में वड़ी मजवूती के साथ लगादी गई हैं। परंतु मैं समझता हूं कि यह कमान पीछे से वनाई गई है; क्यों कि इस के चारों थंभे भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। इन मूर्तियों का इस लिंग-देव के साथ कोई संवंध नहीं है। इस से ये मूर्तियें किसी अन्य जगह से लाकर यहां पर रख दी गई हैं। यद्यपि, वर्तमान समय में काँगडे में कोई जैन नहीं है परंतु पहले दिल्ही के वादशाहों के हाथ नीचे दिगंवर-जैन यहां की दिवानगिरि किया करते थे। इस से पिछले जमाने में यहां पर जैन लोक अवश्य रहा करते होंगे।"

आर्कीयोलोजिकल सर्वे ऑव इन्डिया की सन् १९०५-०६ की एन्युलरीपोर्ट (Arch. Sury. of India, Annual Report 1905-06) के १६ वें पृष्ठ पर भी इन मूर्तियों का संक्षेप में इस प्रकार उल्लेख किया गया है:—

"(किले में) अंविका के मंदिर की दक्षिण की ओर दो छोटे छोटे जैनमंदिर हैं जिन के द्वार पश्चिम दिशा में वने हुए हैं। एक मंदिर में केवल गद्दी ही का भाग अवशिष्ट है जो तीर्थंकर की मूर्ति का होना चाहिए। कनींगहाम के कथनानुसार—जैसा कि उन्हों ने

---

* जनरल कनींगहाम ने अभयचंद्र को राजा समझा है परंतु यह उन की भूल है। यह राजा का नाम नहीं है परंतु आचार्य का नाम है। 'अभयचंद्र' शब्द के पहले स्पष्ट सूरि शब्द लिखा हुआ है और उन का गच्छ भी 'राजकुल' वताया गया है। डॉक्टर बुल्हर ने भी यही लिखा है। देखो आगे के पृष्ठ पर का लेख।

लेख में पढा था-यह मूर्ति प्रथम संसारचंद्र राजा के राज्य में संवत् १५२३ (सन् १४६६) में, बनाई गई थी। दूसरे मंदिर में आदिनाथ की बड़ी मूर्ति स्थापित है। इस के नीचे घिसा हुआ कुछ अस्पष्ट लेख है।"

"........(कांगड़ा शहर में इन्द्रेश्वर के मंदिर की) दक्षिण ओर एक दूसरा कमरा है जो पूर्व का असली मंदिर होना चाहिए। जनरल कनींगहाम के वर्णन मुताबिक, इस के अंदर जाते समय दोनों तरफ दो जिनमूर्तियें दिखाई पड़ती हैं। ....इन में से एक ऊपर सप्तर्षि अथवा लौकिक संवत् के ३० वें वर्ष का शिलालेख है। डॉक्टर बुल्हर, जिन्हों ने इस लेख को प्रकट किया है, के कथनानुसार, इस लेख की लीपि, (कीरग्राम की) बैजनाथ-प्रशस्ति की लीपि से मिलती-झूलती है इस से सन् ८५४ में यह लेख लिखा गया होना चाहिए।"

जिस लेख का इन ऊपर के अवतरणों में जिक्र किया गया है वह लेख डॉक्टर बुल्हर (G. Buhler, Ph. D., L. L. D. C. I.E.) ने एपिग्राफिआ इन्डिका के प्रथम भाग में (Epigraphia Indica, Vol. I, XVIII.) संक्षिप्त नोट के साथ प्रकट किया है जिस की नकल यहां पर दी जाती है।

कांगड़ा-बाजार में पार्श्वनाथ-प्रतिमा का जैन लेख।

नीचे दिया हुआ आठ पंक्तियों का शिलालेख, कांगडा-बाजार में आये हुए इन्द्रवर्मा के हिन्दु-मंदिर की कमान में रक्खी हुई एक पार्श्वनाथ की प्रतिमा की गद्दी ऊपर खोदा हुआ है। ×तैल और सिन्दुर से यह लेख इतना दब गया है, कि जिस से इस के बहुत से अक्षर बिल्कुल नहीं दिखाई देवे। अंतिम पंक्ति सर्वथा नष्ट हो गई है।

× इस मूर्ति को लोक भैरव की मूर्ति समझ कर तैल और सिंदूर द्वारा इस की पूजा किया करते हैं। इस पर तैल और सिंदूर का इतना दल चढ गया है कि जिस से मूर्ति के बहुत से अवयव बिल्कुल दबसे गये हैं। इसी सबब से लेख के अक्षर भी ठीक ठीक नहीं पढ़े जा सकते।

लेख।†

(१) ओम् संवत् ३० गच्छे राजकुले सूरिरभूच(द)-
(२) भयचंद्रमाः [।] तच्छिष्यो मलचंद्राख्य [स्त]-
(३) त्पदा(दां) भोजषट्पदः [॥] सिद्धराजस्ततः ढङ्गः
(४) ढङ्गादजनि [च]ष्टकः। रल्होति गृ[हण]ि [त-
(५) स्य] पा—धर्म—यायिनी। अजनिष्टां सुतौ।
(६) [तस्य]ां [जैन] धर्मध (प)रायणौ। ज्येष्ठः कुण्डलको
(७) [ऽ] ा [ता] कनिष्ठः कुमराभिधः। प्रतिमेयं [च]
(८) – – जिना – – ि – – नुज्ञया। कारिता – – – – – –
– – – – – – – – – – – – [॥]

भाषांतर।

ओम् ३० वें वर्ष में +

राजकुलगच्छ में अभयचंद्र नाम के आचार्य थे कि जिन के शिष्य अमलचंद्र हुए। उन के चरणकमलों में भ्रमर के समान सिद्धराज था। उस का पुत्र ढंग हुआ। ढंग से चष्टक का जन्म हुआ। उस की स्त्री राल्ही थी......उस के धर्म-परायण ऐसे दो पुत्र हुए जिस में से बडे का नाम कुण्डलक था और छोटे का कुमार। ....की आज्ञा से यह प्रतिमा बनाई गई है।...........

[नोटः—इस लेख की लिपि प्राचीन शारदा-लिपि है और वैजनाथ-प्रशस्ति की लिपि से बिल्कुल मिलती हुई है इस लिये इस में बताया गया लौकिक-संवत् ३०, कदाचित् इ. स. ८५४ हो सकता है। 'गच्छ' शब्द ऊपर से जाना जाता है कि अभयचंद्राचार्य श्वेताम्बर थे परंतु पट्टावलियों में 'राजकुल' मिल नहीं सका।]

——:0:——

† सुप्रसिद्ध जैनतर्क ग्रंथ "सम्मतितर्क" के प्रसिद्ध टीकाकार तर्कपंचानन श्रीमदभयदेवसूरि राजगच्छ ही के आचार्य थे। क्या यही अभयदेवसूरि तो, इस लेख वाले अभयचंद्राचार्य न हों? विद्वानों को चाहिए, कि इस विषय में विशेष खोज करें।

इस लेख और वर्णन से पाठक जान सकते हैं कि काँगड़ा या नगर-कोट्ट बहुत प्राचीन समय से जैनधर्म का तीर्थस्थल बना हुआ है। यद्यपि काल के कुटिल स्वभाव से वह प्राचीन प्रभुता आज सर्वथा विलीन हो गई है, वे बड़े बड़े मंदिर और प्रभावशाली प्रतिमायें नष्ट-भ्रष्ट हो गई हैं, तथापि ये अवशिष्ट मूर्तियें आज भी हमारे दिल में, गत-गौरव को फिर समुत्पन्न करतीं हैं। केवल इन का नाम सुन कर ही हमारी आंखों के सामने वे सब दृश्य खडे हो रहे हैं जिन का वर्णन इस त्रिवेणि में किया गया हैं।

क्या ही अच्छा हो यदि इस नाम-शेष तीर्थ का फिर पुनरुद्धार किया जायँ। जो प्रतिमायें यहां पर अस्त-व्यस्त पड़ी हुई हैं उन्हें, एक सुन्दर मंदिर बनवा कर उस में स्थापित की जायँ। पंजाब और मध्यप्रान्त के जैन-समुदाय का कर्तव्य है कि वह अपने निकट के इस महातीर्थ का उद्धार करें। उन के नजदीक में इस के जैसा एक भी कोई तीर्थस्थल नहीं है।*

उपसंहार।

विज्ञप्तित्रिवेणि की प्रधान तीन व्यक्तियों का अधिक-परिचय हो चुका। साथ ही प्रस्तावना का वक्तव्य भी पूरा हो चुका। इस प्रबंध और प्रस्तावना के अवलोकन से पाठकों को जैनधर्म की प्राचीन-प्रभुता, सामाजिक-स्थिति, आचार्यों की शासनप्रणाली, साधुओं का सांप्रदायिक नियमन, श्रावकों का धर्मप्रेम इत्यादि अनेक बातों का ज्ञान हो सकता है। विद्वान् लोक यह भी जान सकते हैं कि प्राचीन पुस्तकों और पुस्तक-भाण्डागारों का यदि ध्यान पूर्वक निरीक्षण किया जायँ तो उन में से जैन इतिहास के लिये विश्वसनीय साधनों का विपुल-भाण्डार, अनेकानेक रूप में प्राप्त हो सकता है

---

* इच्छा तो थी, कि जिस तरह नगरकोट का अधिक परिचय दिया गया है वैसे और भी उन स्थानों का परिचय लिखा जायँ, जिन का उल्लेख इस त्रिवेणि में किया गया है; परंतु बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी उनके विषय में कुछ नहीं ज्ञात हो सका।

और उन के आधार पर शृंखलाबद्ध इतिहास तैयार किया जा सकता है। इस प्रस्तावना का बहुत सा भाग ऐसे ही साधनों द्वारा लिखा गया है।

गत वर्ष में, पाटन के प्राचीन-भाण्डारों का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करते समय वाडीपुर-पार्श्वनाथ के पुस्तक-भाण्डार में से इस पुस्तक की हस्तलिखित प्राचीन प्रति मेरे दृष्टि-गोचर हुई। पुस्तक देखते ही मुझे महत्त्व की मालूम दी और इसे छपवाने के लिये प्रेस-कॉपी तैयार कराई गई।

पुस्तक उसी समय की लिखी हुई है जब कि यह बनाई गई थी। अर्थात् सं. १४८४ के माघ सुदि ८ मी के दिन इस की रचना पूर्ण हुई थी और १० मी के दिन की यह प्रति लिखी हुई है। पुस्तक पर लेखक का नाम नहीं है तो भी अनुमान से जाना जाता है कि जयसागरोपाध्याय के शिष्यों में ही से किसीने यह लिखी होगी। पुस्तक की स्थिति जीर्ण हो गई है और प्रत्येक पृष्ठ पर सेंकडों छोटे छोटे छिद्र पड़े हुए हैं। अक्षर सुंदर होने पर भी पढने में कठिनता अवश्य पडती है। जल्दी जल्दी लिखे जाने के कारण कहीं कहीं अक्षर भी छूट गये हैं जिनमें से कितने क पीछे से कीसी संशोधक ने पत्रों के किनारे पर लिख दिये हैं। पाठकों के अवलोकनार्थ, इस के अंतिम पत्र का फोटू पुस्तक के प्रारंभ में दिया गया है। शमस्तु।

भाद्रपद पूर्णिमा।
जैनउपाश्रय
(बडौदा।)

—मुनि जिनविजय।

अर्हम् ।

श्रीमद्–विजयानन्दसूरिपादपद्मेभ्यो नमः ।



विज्ञप्तित्रिवेणिः ।



नमः सर्वविदे ।

जयति लसदनन्तज्ञाननिर्भाससान्द्रो
निरुपममहिमत्वादार्हतः कोऽपि भावः ।
त्रिभुवनजनभाग्यागोचरो यत्र नित्यं
विलसति कृतवासा निर्भरं सा शिवश्रीः ॥ १ ॥

जगन्नित्यं किञ्चिचदितरदनित्यं च सदियं
यदज्ञानाद्भ्रान्तिः स्फुरति मृगतृष्णेव भुवने ।
क्षणेन क्षीयन्ते दुरितनिवहा यत्परिचया-
च्चदेवाऽङ्गीकुर्मो निरभिविधि जैनेश्वरमहः ॥ २ ॥

दौर्गत्यदोषमुच्छेत्तुं विबुधा यामुपासते ।
कल्पवल्लीव सा जैनी चतुर्विंशतिरिष्टदा ॥ ३ ॥

विश्वाशाः परिपूर्णतामुपगता वाञ्छार्थलाभांशुभि-
र्नष्टा तामसमण्डलीव विलसद्वैरादिवार्चाऽपि हि ।
मार्गामार्गविचारचारिमधरा जाता समस्ता मही
यस्यैवाभ्युदये, स शान्तिसविता सुप्रातराविष्क्रियात् ॥ ४ ॥

योऽद्विष्टचित्तोऽपि रिपूञ् जघान विरक्तचित्तोऽपि भुनक्ति मुक्तिम् ।
सदाऽभिजातोऽपि हि नाभिजातः स कामितं कामितमातनोतु ॥५॥

महामृगाङ्कः सततं प्रजानां सन्तापनिर्वापकपादसेवः ।
विस्मेरयन् कौमुदमादरेण जिनेन्द्रचन्द्रोऽजित एष पायात् ॥ ६ ॥

यैः क्षिप्तानि जगन्त्यपायकुहरे प्राप्तावकाशैः पुरा
स्थानं नश्च हृतं प्रणेशुरधुना पापाः क्व दोषा इति ।
तानन्वेष्टुमिव भ्रमन्ति भुवने प्राप्तोदया यद्गुणाः
स श्रीमाञ् जिनसम्भवो भवतरुच्छेदे कुठारायताम् ॥ ७ ॥

नन्दत्वसौ श्रीजिनपोऽभिनन्दनो यद्दानशौण्डीर्यगुणैकलिप्सया ।
प्रविश्य हेमाद्रिदरीं सुरद्रुमा भृङ्गस्वरेण प्रसभं जपन्ति किम् ? ॥८॥

भ्रूभङ्गं न बभार भालशिखरे नो शोणिमानं दृशोः
प्रागल्भ्यं हृदये नवा शममये नाङ्गे तथोत्सेकताम् ।
हत्वा मोहभटं तथापि युधि यो निर्द्धाटयामासिवान्
भव्यस्वान्तपुराज्जिनः स सुमतिर्द्धर्म्मे मतिं वर्द्धयेत् ॥ ९ ॥

शशधरकरैः सायं दूये दिवा तु विहङ्गमै-
र्विदलितमहं स्थानं हेयं तदेतदशर्म्मदम् ।
इति सरसिजं तोयं हित्वा किलाङ्कतयाऽभज-
ज्जगदभयदं पादं पद्मप्रभस्य, स शर्म्मणे ॥ १० ॥

भक्तिरागनिभृतेषु मुनीनां मानसेषु चिरवासवशात्किम् ? ।
रक्तकोकनदरङ्गदभीशुः स्पष्टयत्वभिमतं जिनपष्ठः ॥ ११ ॥

अन्तर्दीप्तसुबोधदीपकलिकोद्भूताञ्जनौघा इव
श्रीसंवेगसमुद्रवीचिविलसल्लीलाप्रकारा इव ।
रेजुर्यस्य शिरस्युदंशुमणयः पञ्च स्फुरन्तः स्फुटा
भद्रालीं द्रढयेदघं विघटयेद्देवः सुपार्श्वः स वः ॥ १२ ॥

विलसदतुलशुक्लध्यानसद्दुग्धसिन्धो-
रविरललहरीभिः प्रोद्गताभिः प्रकर्षात् ।
हिमहिमकरगौरा यत्तनुः प्लाविितेवाऽ-
शुभदशुभमिदे स्याद्देवचन्द्रप्रभोऽसौ ॥ १३ ॥

कृपामृताब्धिः सुविधिः समाधिं सन्धातुमुत्साहयतां मनो वः ।
यस्माद्बुधाश्चिन्तितवस्त्ववाप्य तृणाय चिन्तामणिमप्यमंसत ॥ १४ ॥

अश्रान्तवृत्तिमधुरो हरिणाश्रितोऽयं
भव्यान् जनानवतु शीतलशीतलांशुः ।
यद्बिम्बमुज्ज्वलकलं भृशमीक्षमाणा
लोकत्रयी प्रमदतः कुमुदांबभूव ॥ १५ ॥

श्रेयांसः श्रितवत्सलः सृजतु वो नित्यं श्रियं श्रायसीं
पश्चाद्वमणिपातनिर्म्मितिवशाद्यत्पादपीठाग्रतः ।
रेजुर्मञ्जुरजोऽवगुण्ठननिभाद्भालेषु भव्यात्मना-
मेते योग्यतमा इतीव तिलकाः पुण्यश्रिया निर्म्मिताः ॥१६॥

स्वर्भूर्भुवःस्थायुकलोकपूज्यः श्रीवासुपूज्यो जयताज्जगत्याम् ।
सस्पर्द्धयेव श्रमणत्वलक्ष्म्या यस्मिंस्तनुश्रीरपि भाति रक्ता ॥ १७ ॥

कलियुगतया भीष्मभीष्मे प्रसर्प्पति भूतले-
ऽजनिपत कृशा आशानद्यो मदीयमनोभुवि ।
विमल ! तदलं वर्षत्वेषा प्रसादपयोभरं
तव पदपरीष्टिस्तत्पूरं सुवृष्टिरिवोच्चकैः ॥ १८ ॥

सभाजनप्रीणनकृत्सभाजनो
महोदयस्थो विलसन्महोदयः ।
यकः सदाऽनन्तगुणालिनिर्मलो
मनः क्वापि पातु नताननन्तजित् ॥ १९ ॥
(गूढक्रियम् ।)

त्रैलोक्यलोकतिलकोऽस्ति जिनो गुणद्ध्यो
तस्याऽप्युपर्यहमिति प्रमदादिवोच्चैः ।
नृत्यत्यशोकविटपी चटुलैर्दलैः किं ?
यद्धर्म्मसद्मनि स धर्म्मजिनः शिवाय ॥ २० ॥

भवाभ्यन्तरे कर्म्मधर्म्माकुलत्वाद् गुणश्रेणिनिश्रेणिमालम्ब्य योऽलम् ।
सुखं मुक्तिवातायनं प्राप्य शेते सदा निर्वृतः शान्तये स्तात्स शान्तिः॥२१

कुन्थुं कान्त ! नमस्कुरु, प्रियतमे ! कः क्षुद्रजन्तुं नमेत् ?
भर्त्तः ! श्रीतनयं वदामि, मदनः किं ? नैष सूरात्मजः ।
किं मन्दोऽयमयि प्रभो ! नहि जगत्प्रद्योतकस्तीर्थकृत् ;
दम्पत्योरिति वक्रवाक्यविषयः पुण्यात्सुखान्येष वः ॥ २२ ॥

पूर्वोपार्जितपापकर्मपटलान्येधन्ति यत्राङ्गिनां
खद्योतन्ति मृगाङ्कचण्डकिरणाद्या यत्र तेजस्विनः ।
विश्वव्यापकमप्यनक्षविषयं यद्भासते सर्वतः
तज्ज्योतिः प्रणिदध्महे भयभिदे देवारतो नापरम् ॥ २३ ॥

देवो वाङ्मनसातिगोचरगुणोऽर्वाचीनदृग्देहिनां
मल्लिः पल्लवयेन्मतिव्रततिकां सोऽयं वसन्तोपमः ।
यस्माद्विश्वजनप्रमोदजननीमासाद्य रम्यां रमां
भव्याराममगणा इह प्रतिदिनं सेव्या न कस्याभवत् ॥ २४ ॥

यो ध्यायमानोऽपि हि कृष्णवर्णस्तनोति सद्धर्म्मधियं बुधानाम् ।
सुश्यामलश्रीजलदायमानो जयत्यधीशो मुनिसुव्रताख्यः ॥ २५ ॥

तापं तापमपारदुस्तपतपः सद्ध्यानशातासिना
छिन्दानं तरसात्मकर्म्मगहनं दृष्ट्वैनमादीक्षणात् ।
आत्मोच्छेदभियेव नो ववृधिरे केशा नखा यस्य वै
श्रामण्ये विहरन्नमिर्जिनपतिः सम्पत्तये जायताम् ॥ २६ ॥

मोहाख्यो नृपतिर्विकीर्णहृदधिष्ठानाद्विनिर्द्धाटितो
देवेनेति ततो विमग्नसकलोपायान्तरोऽयं किल ।
स्थानप्राप्तिकृते दिवानिशमसौ रागच्छलात्पिच्छलं
यत्पादाब्जयुगं भजत्यभिमतं दद्यात् स नेमीश्वरः ॥ २७ ॥
किं भाद्राम्बुधरा अमी समुदिता आश्वासयन्तो जगत् ?
किं वैताः फलभारसुप्रतनवः प्राप्ता भुवं स्वर्लताः ।
श्रीवामेयशिरस्ययत्नजनितां छत्रश्रियं बिभ्रत
इत्थं भ्रान्तिकराः स्फुटाः सुमनसां कुर्वन्तु वो मङ्गलम् ॥ २८ ॥
कीदृक्षे हि विधौ भवन्ति विफलाः पुंसा प्रयासाः कृताः ?
भानोरुत्तरदक्षिणोभयगतौ के कारणं वर्णिते ? ।
का विश्वं निजसङ्गमात्प्रकुरुते सौभाग्यभाग्योज्ज्वलं ?
को वा सेवकसत्फलः कलियुगे वामेयनेता जयी ॥ २९ ॥
(प्रश्नोत्तरम् ।)

श्रीवीरः पुरुषोत्तमः क्षपयतात्पापं नृपश्रेणिका-
सेव्यांह्रिद्वितयः क्षमाभरधरः कल्याणकायं दधत् ।
यः सत्त्यागदयान्वितः प्रविलसत्सद्दर्शनोत्सर्प्पणा-
च्चं क्षिप्त्वा नरकं समाधिमुदितं स्वस्थं जगत् संव्यधात् ॥ ३० ॥
अर्हन् सिद्धः प्रबुद्धः प्रकटगुणगणः पारगोऽनङ्गभेदी
वीरो विश्वाधिनाथः किशलयतु स वोऽतुल्यमाङ्गल्यमालाम् ।
व्योमेवाद्यापि यस्य प्रविदितमहिमोल्लासनं शासनं त-
च्चित्रं सूर्याक्षमप्युज्ज्वलसुशशिकुलं भाति निस्तारकं यत् ॥३१॥
वर्द्धमानजिनेशस्य वचनाय नमोनमः ।
अज्ञानध्वान्तविध्वंसाद्यदेव दिवसायते ॥ ३२ ॥
दिन्नादितापसहितोऽपि हि तापहारी
रुद्धप्रमादविसरोऽप्यमितप्रमादः ।

योे निर्द्धनोऽपि धनधान्यसमृद्धिहेतु-
नामस्मृतिर्नमत तं गुरुमिन्द्रभूतिम् ॥ ३३ ॥

नमः क्षमाधरोद्घाय श्रीसुधर्म्महिमाद्रये ।
जज्ञे गौरीदृशी यस्मान् महाव्रतिमनःप्रिया ॥ ३४ ॥

श्रीमद्वीरजिनेशवंशविशदप्रासादशृङ्गाङ्गणे
रङ्गच्चारुसिताम्बरप्रविलसत्कीर्तिध्वजाबन्धुरे ।
सद्वृत्तः कलधौतकुम्भतुलनामुच्चैर्दधे यश्चिरं
प्रज्ञां पल्लवयत्वसौ गणधरः श्रीमान् सुधर्म्मा मम ॥ ३५ ॥

जयति जगन्ति पुनाना वाङ्मालाभिः सरस्वती देवी ।
करकृतमणिमिव कवयो विश्वं पश्यन्ति यदनुभवात् ॥ ३६ ॥

सदुक्तिमुक्ताफलताम्रपर्ण्यै नमोनमः श्रीगुरुराजवाण्यै ।
जडस्वभावोऽपि हि यत्प्रसङ्गात् सिन्धुः स रत्नाकरतामवाप ॥३७॥

यदीयवागञ्जनस्य मनोदृशि निवेशनात् ।
विन्दन्ति गूढमप्यर्थं जनास्तं गुरुमर्थये ॥ ३८ ॥
तदेवं सम्यगाराध्याऽऽराध्यपादान्महादरात् ।
लेखोऽयं लिख्यते किञ्चिद्गद्यपद्यमयो मया ॥ ३९ ॥
क्व मे तुच्छतमा बुद्धिर्महान् क्वायमुपक्रमः ? ।
तदहं मातुमिच्छामि कुम्भैरम्भोऽम्बुधेरपि ॥ ४० ॥
गुरुप्रसादतो यद्वा ममाप्यत्रास्ति योग्यता ।
भेकोऽपि हि भुजङ्गास्यं चुम्बेन्मान्त्रिकयोगतः ॥ ४१ ॥

विश्वाम्ब ! मे हृदि सरस्वति ! सन्निधेहि
स्या सम्प्रति फलेग्रहिरुद्यमोऽयम्* ।

---

* अस्मिन् पादेऽक्षरद्वयं त्रुटितमस्ति । तच्चादौ 'स्पाद्येन' इत्येवं सम्भवेत् ।

यद्वा चकास्ति गुरुभक्तिरचिन्त्यशक्तिः
सैव प्रमाणमखिलार्थविधौ ममास्तु ॥ ४२ ॥

अस्ति समस्तशस्त्रवस्तुवास्तुभूतभारतविश्वम्भराविस्तारस्फुरचिलकायमानः स्फायमानः सकलसम्पत्त्या समानः स्पृहणीयतया स्वर्गलोकस्य, सत्पुरुष इव बहुलक्षणभासुरः, नाकलोक इव सुधर्म्मास्थानसुन्दरः, शब्द इव प्राग्रहरः सर्वविषयाणाम्, नदीपतिरिवेन्दिरासङ्गोल्लसदङ्गमहाशेषनागाधिरूढप्रौढपुरुषोत्तममहनीयाभ्यन्तरः, सगरभूपालमूर्त्तिमद्यशोविश्रामायमानलसद्वीचिवितानेनोदन्वता परिचितपरिसरः, सारः सकलसंसारविस्तारस्य, आकरः सदाचारव्यवहाराणाम्, आश्रयः श्रेयसाम्, सङ्केतास्पदं समस्तशस्यदिव्यसम्पदाम्, आपणो नयनैपुणादिक्रयाणाम्, रोहणो विनयविवेकविचारादिगुणमणिगणानाम्, मध्यप्रदेशस्फारहारायमाणार्हद्धिरारोदारो गूर्ज्जरो नामा जनपदः । यस्मिन्नश्रान्तसुकृतकर्मक्षणनिर्म्माणात्युत्सहिष्णुवर्द्धिष्णुधर्म्मपुरुषार्थप्रदत्ताशाः प्रशान्तदुरितोपप्लवाः श्रीआर्हतधर्म्मराजराजधान्यः पुरुषायुषजीविन्यः प्रजाः । अपि च वर्णविनाशो व्याकरणेषु, क्षणक्षयिभावस्ताथागतसिद्धान्तेषु, भूतविकृतिवादः सांख्येषु, जडस्वभावस्मजल्पस्तथा छलकौशलोद्भावनं निग्रहस्थानानि चाक्षपादमतीयसिद्धान्तेषु, वक्रचारिता ग्रहगोचरे, ग्रहावेशो राशिषु दृश्यते श्रूयते वा, न च वास्तव्येषु लोकेषु । यत्र तुरङ्गशोभिताः प्रासादा इव मन्दुराः । यत्र च लहरिसङ्कुला नद्य उद्यानभूमयश्च । यत्र च कौटुम्बिकगृहा इव बहुधाना विपणिभागाः, व्याकरणप्रबन्धा इव विलसद्धातूदयाः, क्वचिद् दृश्यमानद्विगवश्च, अव्ययीभावानुभावोत्सर्पितक्षेत्रिप्रमोदाः सद्वन्द्वाश्च वप्रप्रदेशाः । किं बहुना !

व्योमोपमा व्योम्न एव सुधायाश्च यथा सुधा

तथा गूर्जरदेशस्योपमानं यदि गूर्जरः ॥ १ ॥
यत्र ग्रामा इवारामाः सदाशुकविराजिताः ।
निवासा इव कासारा लक्ष्मणश्रेणिसङ्कुलाः ॥ २ ॥

तत्र लसल्लक्ष्मीदेवीनिवासकमलोपमानं अणहिल्लपाटकं नामपत्तनम् ।

अश्रान्तोद्भवदुत्सवोत्सृतमुदुल्लोलावलीसङ्कुलं
रङ्गद्भूरिसितच्छदं शुभति यत्पद्माकराम्भो भुवि ।
यत्रोच्चैः स्फुटपुण्डरीकपडलभ्रान्त्या भ्रमच्चेतना
रम्ये हर्म्म्यगणे सुधाधवलिते नूनं निलीना रमा ॥ १ ॥
मुक्तामणीविद्रुमशुक्तिशङ्खान् राशीकृतान्वीक्ष्य यदापणेषु ।
लोकैर्वितर्क्येत जलावशेषश्चित्रीयमाणैर्हृदये पयोधिः ॥ २ ॥
अनेकसूर्यावलिशालिमध्यं नानाबुधाढ्यं बहुमङ्गलं च ।
श्रीदैर्महेशैरमितैः परीतं यत् पत्तनं खं प्रति जाहसीति ॥ ३ ॥
सन्नरागमना यत्र मुनिपर्षच्च भूभृताम् ।
राजहंसा इव जनाः सर्वदा मानसङ्गताः ॥ ४ ॥

यत्र च—

कलाकीलालकल्लोला लोकाः केलिकुलाकुलाः ।
कलिकालेऽकलङ्काला लीलां ललुः कलां किल ॥ ५ ॥
(द्विव्यञ्जनचित्रम् ।)

बुधा इव जना यत्र चित्तरङ्गोपशोभिताः ।
मनुष्येशा इवावासा मत्तवारणराजिताः ॥ ६ ॥

किं च—

चिरन्तनपुरुषातिशायिभाविष्यत्सप्रभप्रभावकश्रावकहृदयशयाखर्वगर्वसर्व्वस्वापहारिहारिचरितत्रिभुवनप्रशंसनीयत्रिभुवनपालदेवकुलकाननोल्लासभासनसुरभिसमयानुकारिकाश्मीरदेवीमहासतीसदुदरस्फारवैडूर्यवर्यवसुन्धराखानिसम्भवदतुल्यामूल्यमहार्घ्यप्रातिहार्यावार्यार्यजनस्तुताप्रत्नरत्ना-

यमानंश्रीकलिकालकेवलिबिरुदविशदावतारप्राप्तचातुर्वैद्यमाचदनिन्यपारावारपारश्रीजिनशासनाम्बराम्बरमणिसुगृहीतनामधेयसिद्धश्रीहेमसूरिमुखोच्छलदतुच्छाच्छपिच्छलोन्मूर्छच्छुचिरुचिरुचिरामृतच्छटायमाननिस्समाननिरुपमाननिर्विगानप्यानज्ञानवर्द्धमानपरमतत्त्वमयसमयावितानव्याख्यानविशेषनिःशेषनिर्व्वासिताऽऽनादिकाललीनानवीनसादीनवपीनाहीनदुर्वासनाविपापस्मारसारसकलजगज्जन्तुजीवातुकल्पनिर्विकल्पामारिघोषणामिषोद्घोषिताऽऽकल्पान्तकालकालावस्थाय्यनिवर्त्तनीयकीर्चनीयकीर्त्तिकमलाकटाक्षसाक्षात्कृतश्रीकुमारपालभूपालसम्भावितनव्यनव्यभव्यभव्यजनस्पृहणीयतत्तदुत्तमकरणीयजातिप्रतिभूभूतप्रभूततचाद्दक्षविशदप्रासादस्थाननिध्यानवशोद्भिद्यमानरोमाञ्चनिकायाऽऽधुनिकधार्म्मिकनिकायविधीयमाननानाविधधर्म्मोत्सवारम्भसुभगं यज्जयति जगत्पुराणि पराणि । किञ्च—

यत्र हर्म्येषु धर्म्येषु पञ्जरस्थाः शुकादयः ।
नमस्कारं पठन्तः स्युः पुत्रेभ्योऽपि सतां प्रियाः ॥ १ ॥
सहस्रलिङ्गाख्यसरःसलिलेन सुचिस्थिणा ।
यत्रापूर्णं सदाप्याभाद्धनेनेव पुरं च तत् ॥ २ ॥
न्यायमार्गान्वितो यत्र राजा राजेव तज्जनः ।
तद्वत्प्रामाणिको लोकोऽप्येवमेव व्यवस्थितः ॥ ३ ॥
साधवो यत्र मान्यन्ते दानश्रद्धालुभिर्जनैः ।
साधुभिश्च यथा कालं तेऽपि धर्म्मानुशिक्षिताः ॥ ४ ॥
विमानानीव यत्रोच्चैर्धर्म्मस्थानानि निश्चितम् ।
नित्योत्सवानि राजन्ते विबुधप्रीतिदानि च ॥ ५ ॥
माणिक्यमौक्तिकस्वर्णराशीन्विपणिगाञ्जनः ।
वीक्ष्य चक्रे रोहणाब्धिमेरूणामागमभ्रमम् ॥ ६ ॥
सधना यत्र च जनाः सदाचाराः ससम्मदाः ।

स्वर्गभुक्तावशिष्टस्य धर्म्मस्यांशा इवाङ्गिनः ॥ ७ ॥
सलज्जाः सदयाः सौम्याः सरूपाः समहोदयाः ।
लोका यत्र निरीक्ष्यन्ते सुषमाकालजा इव ॥ ८ ॥

तत्र पवित्रसुत्रामपुरापारस्मयचयव्ययकरे पुरे—

जडपरिचयोद्विग्ना नूनं विहाय कुशेशयं
कमलनिलया देवी येषामवाप पदद्वयम् ।
स्फुरति नितरां तस्मादेवेन्दिरोल्लसदाशयाः
तदतिवरिवस्यासक्तानां गृहेषु तनूभृताम् ॥ १ ॥

सत्यं सन्ति सितोपलाशशिकलासद्धारहूरादयो
मिष्टाः किन्तु यदीयवाग्मधुरिमा कोऽप्यद्भुतो वर्त्तते ।
सक्लृप्तामृतभोजना इव जना यां कूणिताक्षाः सकृत्
पीत्वा सार्वदिकं लभन्ति सततं सन्तोषपोषं परम् ॥ २ ॥

शाणोत्तीर्णमणीव कान्तिकलिता दातेव चौदार्यभाक्
रम्भावन्मृदुला शरद्विमलिताऽऽशैव प्रसन्नाऽधिकम् ।
सन्माधुर्यगुणा सितेव सुधया सिक्ता तु सूक्तावली
येषामाननसम्भवा श्रुतिगता काँस्कान्न संमोदयेत् ॥ ३ ॥

जगद्दृगानन्दरसैकसत्त्रं येषां मुखं निश्चितमिन्दुविम्बम् ।
निपीय तद्वागमृतं किमन्यथा सच्चन्द्रकान्ता बभुरार्द्रितान्तराः ॥४॥

अग्रे सत्यमरूरुपन् सपदि ये स्याद्वादवादद्रुमं
यस्याध्यक्षपरोक्षमानयुगलं मूलं प्रकाण्डं कृपा ।
शाखाः सप्तनया जिनप्रवचनं पत्रप्रकारं विदुः
तत्त्वज्ञानमुशन्ति पुष्पपटलं मोक्षं तु सम्यक्फलम् ॥ ५ ॥

यैः कुन्देन्दुतुषारहारधवलैर्ब्रह्माण्डमाभूष्यते
यैर्वक्तुं हृदि कल्पितैरिह जनो मूकोऽपि वाग्मीयते ।

यैः कर्णातिथिभिः प्रमोदजलधिश्चन्द्रैरिवोल्लास्यते
तेषामद्भुतसम्पदां गुणगणानामास्पदं ये परम् ॥ ६ ॥

लोकालोकमहीधरप्रतिहतो भानोः प्रकाशोऽपि हि
विस्फूर्जद्द्युतिवज्रिणोऽपि कुलिशं पाथोधिना स्खल्यते ।
सर्वत्रास्खलितप्रचारमतुलं विभ्राजते यद्यशो-
दुग्धाम्भोध्यवगाहनादिव चिरं गौरं जगल्लङ्घनम् ॥ ७ ॥

ज्योत्स्नोच्छ्रायविनाकृतेव मलिनच्छायेव मुक्तावली
साशङ्केव हि दुग्धसिन्धुलहरी स्वर्गापगा निम्नगा ।
शुक्ता त्यक्तमुदेव तुच्छगरिमैवोच्चैस्तुषारावली
नैर्मल्यातिशयात्पराऽदिह जिता यत्कीर्तिकान्त्या किल ॥ ८ ॥

क्षारो वारिनिधिर्बुधैर्निगदितो दोषाकरश्चन्द्रमा
विष्णुश्चापलतान्वितोऽपि चपलासङ्गाधिकश्रीर्घनः ।
देवेन्द्रस्तु सुराधिपोऽपि बहुरुग् भास्वान् विषादी हर-
स्तत्केनात्र समं विशुद्धगुणिनो यत्कोपमा कल्प्यते ॥ ९ ॥

गिरो येषां मुखोद्भूताः कतकक्षोदसोदराः ।
कालुष्यक्षपणाक्षेपाच्छोधयन्ति जडाशयान् ॥ १० ॥

व्याख्याक्षणे मुखे येषां स्फीतदन्तद्युतिच्छलात् ।
माधुर्यं शिक्षितुं वाचः प्रत्यासीदति किं सुधा ? ॥ ११ ॥

सुस्निग्धां मधुरास्वादां येषां दौर्गत्यहारिणीम् ।
पीत्वा वाचं सुधां चापि युक्तं स्युर्विबुधा जनाः ॥ १२ ॥

द्राक्षाः सङ्कुचिताः काष्ठं जग्राहास्ये सितोपला ।
यदीयवाक्यमाधुर्यजिता नष्टा सुधाऽपि हि ॥ १३ ॥

अन्तस्थज्ञानकल्पद्रुकुसुमानीव यन्मुखे ।
सुस्निग्धा मधुराकारा राजन्ते रदनद्युतः ॥ १४ ॥

व्याख्याक्षणे मुखे येषां नूनं नर्नर्ति भारती ।
तन्नूपुरध्वनिरिव लक्ष्यते देशनाक्रमः ॥ १५ ॥
दोलीकृत्य यदीयं तु जिह्वाञ्चलं चलाचलम् ।
तथाविधवचोव्याजाद् वाग्देवी खलु खेलति ॥ १६ ॥
सुधा वुधा मुधा नूनमनूनापि गुणैः परम् ।
यद्वचःपानसंतृप्तश्रोतुरेप वचःक्रमः ॥ १७ ॥
मन्ये सरस्वती तावद्येषां जिह्वाधिदेवता ।
तत्रानुकूलवृत्तीनां यस्मात्सर्वार्थसिद्धयः ॥ १८ ॥
येषां सिद्धरसौपम्यं दधाति वचनक्रमः ।
सुवुद्धिस्वर्णतां याति यत्प्रसङ्गात्कुवुद्धयः ॥ १८ ॥
मुखं शक्तिपुटं येषां वचनानि तु मौक्तिकाः ।
तल्लाभे प्रयतन्ते तु पुण्याढ्या एव केचन ॥ १९ ॥
यद्वाग्वल्ली सप्तभङ्गी रङ्गन्मण्डपगोत्सृता ।
सुभाषितफलैः कस्य करोत्युत्कण्ठुलं न हृत् ? ॥ २१ ॥

(वाणीवर्णनम् ।)

महानुभावा निहताङ्गितापस्तोमा निरुद्धाधिविधा निकामम् ।
पुण्यप्रकाशा नियतेन्द्रियाणां जगन्मुदे गीश्च यशांसि येषाम् ॥२२॥

(महाद्भुतम् ।)

दौर्गत्यभेदिनी रङ्गद्विभावभासिनी स्यात् ।
येषां वाणी च पादाब्जे शिवार्द्धि तनुतां सताम् ॥ २३ ॥

(अद्भुतम् ।)

ऋते येन नो भूपतिर्नापि रङ्कः सजीवोऽप्यजीवोऽस्त्यहो ! जीवलोके ।
तदेवानुभूतं यदीयं जनानां मुदे कारणं तत्र ही सत्प्रसङ्गः ॥ २४ ॥

(प्रहेलिका ।)

तपोभिर्दुस्तपैर्यत्तु दुरापं योगिनामपि ।
तत्सिद्धात्ममयं ब्रह्म येषां वाक्यादपीक्ष्यते ॥ २५ ॥

तार्किकाणां मते ख्याताः ख्यातयः सदसन्मुखाः ।
सत्ख्यातिरेव येषां तु सिद्धा प्रमाणिनामपि ॥ २६ ॥

यद्वार्णावारिदोऽपूर्व्वो राजते विश्ववल्लभः ।
हरत्येव जगत्तापं शंवरं तु न मुञ्चति ॥ २७ ॥

सत्यातपत्रमिव पादयुगं यदीयं
सच्छायमेत्य गततापमरा महीयः ।
सातत्यतोपमवगत्य भवन्ति सन्तः
सातान्विता भुवि नृपा इव संश्रुमन्तु ॥ १ ॥

(छत्रबन्धः ।)

स्फीतसातं वितन्वन्तं शान्तस्वान्तं मतश्रुतम् ।
गीतम्राततत कान्तं सन्ततं तं नुत द्रुतं ॥ १ ॥

(गोमूत्रिकाचित्रं षोडशदलपद्मं च ।)

वराराधरसासार ! नवराजजरावन ! ।
रसानुत तनु सारं दयया ततयायद ! ॥ १ ॥

(अर्द्धभ्रमः ।)

महनीया मतिमतां महामहिमसंगताः ।
मतं नतानां ददतां महात्मानः समाहिताः ॥ १ ॥

(बीजपूरबन्धः ।)

मरालीवातिविमला मनोवृत्तिर्यदीयका ।
मनुते बहुनालीकं कस्मान्न मानसं गता ॥ १ ॥

(आसनबन्धः ।)

स्मयं क्षयं नयन्तो ये कुप्रावचनिकाङ्गिनाम् ।
सम्यग्धर्म्मोपदेशेन पुनन्त्येनं जनं पुनः ॥ १ ॥

(चामरबन्धः ।)

वारम्वारं हरन्ते ये सूर्या इव वर्चोऽशुभिः ।
जगद्दुर्वासनाध्वान्तव्रातं ततं द्रुतन्वतः ॥ २ ॥

(चामरबन्धः ।)

इति चित्राणि ।

अपि चाविकलसकलसकलमञ्जुलकविकुलविमलमुखपद्मपद्मनदोद्गच्छदतुच्छपिच्छलवहुलरसपेशलसरस्वतीसुरसरस्वतीविलसत्सरलतरलसमुज्ज्वलाविरलगद्यपद्याद्यमयलक्षणान्वेषिकीप्रकटनाटकालङ्काराद्यानवद्यहृद्यविद्याविलाससुस्थूलकल्लोलमालारङ्गत्तुरङ्गतरङ्गततितरत्कान्तकीर्त्तितरुणकलहंसिकाश्लाघ्यतमा ये शोभन्ते । याँश्च निर्मलगुणपरीतान् सदाऽमलकोपमानमुक्तान् समुज्ज्वलान् सद्वृत्तान् हारानिव हृदयावनिभागान्नापसारयन्ति क्षणमपि गुणगृध्ना महान्तः । यैश्च चित्रकृच्चरित्रैर्जगज्जैत्रातिमात्रतरः सम्पदन्धम्भावुकसर्वजनीनस्वास्थ्यभरलुण्टाको विवेकोत्सेककुट्टाकदुर्विधः कुसुमायुधः शान्तदान्तैरपि पराजित्यानङ्गीकृतः । येभ्यः सदभ्यस्तप्रशस्तवास्तवस्तुत्यपवित्रचरित्रविचित्रशतपत्रपद्मपद्महृदेभ्यः प्रभूतां परिस्तृतस्वर्भूर्भुवोऽन्तरालां विशालामुत्कल्लोलमालां स्फुरत्कीर्तित्रिदशशैवलिनीं स्थाने स्थाने श्रुतिपुटाञ्जलिभिः पायं पायं प्रायः के के विबुधविसरास्तुष्टिपुष्टिजुष्टा न समापनीपद्यन्ते । येषु च वर्यचातुर्यगाम्भीर्यौदार्यस्थैर्यार्जवमार्द्दवमहिमगरिमादिमा रमणीयास्तत्तद्गुणगणाः कलियुगभयत्रस्ता इव युगपद्वासं विदधति । अपि च—

लब्धप्रतिष्ठा नवसु ग्रहेषु ये सूरभूता अपि भूतलेऽस्मिन् ।
चित्रं न सार्द्धं विबुधैर्विरोधं हवन्ति विश्वं न च तापयन्ति ॥ १ ॥

ते नवीनपीनशारदेन्दुसुन्दरकुन्दकुमुदकेतकोदरसोदरदरद्विचिकलकुल-कुवलयदलधवलसकलजगज्जङ्घालनिस्तुलस्थूलयशःपटलधवलीक्रियमाणत्रिभुवनभवनभित्तिभागा गगनप्रदेशा इव सन्मङ्गला अपि बुधसेविता अपि चन्द्रोदयभासिवसतौ शोभमाना अपि नभोगसम्पन्ना अपि घनाश्रया अपि न च ये ग्रहान्विताः, पुरहूता इव नाकविख्याताः, वैनतेया इव नागमाधिक्षेपकराः, पद्माकरा इव नालसहिताः, शब्दशास्त्रप्रदेशा इव नामसम्पन्नाः, सुकविकृतकाव्यप्रकारा इव नानायतिश्रितपादाः, आर्यानुगताश्च; सत्तमाः शान्तचेतसाम्, विशिष्टाः प्रतिष्ठावताम्, अग्रेगण्या गणवताम्, आश्रयाः स्थेयःसंयमश्रियाम्, आद्या विद्यावताम्, वर्या आर्याणाम्, सारसूरीन्द्रपट्टकमलाकमलिनीकमलिनीवल्लभा जगद्दुर्लभशुभप्रभावप्रकटश्रीसूरिमन्त्रध्यानध्यानसन्धानविधुतसबाह्याभ्यन्तराधिव्याधिप्रसराः सर्वाङ्गसुन्दराः सुगृहीतनामधेयाः परमध्येयाः श्री जिनभद्रसूरिसुगुरुसार्वभौमाः, पं० पुण्यमूर्त्तिगणि–पं० मतिविशालगणि–वा० लब्धिविशालगणि–वा० रत्नमूर्त्तिगणि–पं० मतिराजगणि–वा० मुनिराजगणि–पं० सिद्धान्तरुचिगणि–पं० सहजशीलमुनि–पं० पद्ममेरुमुनि–पं० सुमतिसेनगणि–विवेकतिलकमुनि–क्रियातिलकमुनि–भानुप्रभमुनि–प्रमुखसुमुखकल्मषपराङ्मुखसुखसन्तोषविशेषप्रेङ्खत्प्रेक्षोल्लेखकृतपातकनिष्पेषदूरापसारितद्वेषविशुद्धवेषविधुतविगाननिस्समानन्यत्कृतमानसम्यग्ज्ञानविनीतदोषवितानदूरञ्जनीयजनरञ्जनसार्थजन्यसर्वाङ्गीणगुणोद्दामरक्रियाकाण्डशौण्डीरधीरिमोद्दामप्रकामसंयमारामविहारदक्षमुमुक्षुसितपक्षशिरोविसरशेखरीक्रियमाणक्रमणराजीवरजोविस्तारा वर्णनातीतगुणप्राग्भारा विजयन्तेतमाम् ।

अन्यच्च, अस्ति विविधवसुधावलयभालभूषणललामोपमानो नानाग्रामाकरपुरपत्तनसन्निवेशसरित्सरोवरघनविपिनाद्यास्थानरामणीयक-

स्पृहणीयतमोद्देशः प्रसृमरामेयश्रीनिवेशसम्पन्नशर्मादेशः विमलतरतुरङ्गरङ्गत्तरङ्गशृङ्गतरत्तरुणलक्षणचटुलचक्रवाकचलद्बकोटकारण्डवमण्डलीमण्डितोपान्तया पुण्यागण्यपानीयया पश्चिमपयोधिमभिसरन्त्या स्थूलोल्लोलमालाविलासच्छलाद्दूरात्सङ्गमोत्कण्ठया कोमलभुजलताः स्वपतिं प्रति विस्तारयन्त्येव नदीमातृकजनोज्जीवनजीवनया लालसहंसया विपाशया, चन्द्रभागया, ऐरावत्या, सिन्धुमहानद्या च सर्वतोऽधिभूमिप्राप्तप्रसरयोपेक्षितजलदप्रवेशः सिन्धुनामा देशः ।

अपि च—

नानाकेलिकलाकुतूहललसत्कल्लोलरत्नाकरो
देशः कस्य स सम्भवेन्न रतये प्रोन्निद्रभद्रावनिः ।
क्रीडाक्रीडविहारिणो रचितविब्बोकानशोकानलं
लोकान्यत्र निरीक्ष्य वेत्ति जनता स्वर्गोऽयमेवास्ति किं ? ॥१॥

किञ्च—

यो धनैः सङ्कुलोऽप्युच्चैः सदाऽऽयोधनवर्जितः ।
वनानि यत्र पान्थानामवनानिभवन्त्यहो ! ॥ २ ॥
सदम्भा यत्र तटिनी सकुरङ्गा वनावनिः ।
सक्षया च पुरी ख्याता जनता न तु यत्र हि ! ॥ ३ ॥
धनानि यत्र लोकानां विपुलानि मनांस्यपि ।
परार्थकरणेष्वेव रमन्ते सर्वदाऽपि हि ॥ ४ ॥

तस्य महामण्डलस्य मुखमण्डनं श्रीमन्मलिकवाहनाभिधानं श्रीनिधानं पुटभेदनं वरिवर्त्ति ।

तथा च—

रङ्गद्वैरीगणश्लाघ्यं श्रीदपुण्यजनाश्रयम् ।
महेश्वरकृतास्थानं यत्कैलासायते पुरम् ॥ ५ ॥

वनानि नन्दनायन्ते विमानन्ति महागृहाः ।
दातारः स्वर्द्रुमायन्ते यत्रामरावतीसमे ॥ ६ ॥
जना धनैर्यत्र परं जयन्ति दानेन सर्वानपि रञ्जयन्ति ।
कलिप्रभावं परिगञ्जयन्ति देवान् गुरूँश्चापि समाजयन्ति ॥७॥
कूलङ्कषाशालितसन्निकर्षेऽत्राभ्रंकषावासलसद्ध्वजेषु ।
विसृज्य चापल्यगुणं स्वकीयं श्रियः स्थिरा आढ्यगृहेष्वभूवन् ॥८॥
यस्मिन्नन्यान्यदेशीया नैगमा लाभकाङ्क्षिणः ।
निवसन्ति सुखं पद्माकरे मधुकरा इव ॥ ९ ॥

तत्र श्रीजिनमतप्रभावकश्रावकसङ्कुले श्रीजयसागरोपाध्यायाः, मेघराजगणि–सत्यरुचिगणि–पं॰मतिशीलगणि–हेमकुञ्जरमुनि–पं. समु(मय)कुञ्जरमुनि–कुलकेशरिमुनि–अजितकेशरिमुनि–स्थिरसंयममुनि–रत्नचन्द्रक्षुल्लकपुरोगप्रोत्सर्पत्परमार्थसाधनाभियोगसुस्थितमनोवाक्काययोगसारानगारपरिवारप्रभावितावाध्याया वर्त्तन्ते । तान् श्रीजिनभद्रसूरीश्वरांस्तथाभूतांस्ते श्रीजयसागराभिधेयकाः सादरमप्यपास्तदरं सबहुमानमवमतमानं साञ्जसमप्यनसमञ्जसं सप्रश्रयं सविनयं सहर्षं सरोमोद्धर्षं सानन्दं सविस्मयं त्यक्तस्मयं सोल्लासं सप्रकाशं दिवसकरसम्मितावर्त्तवन्दनेन सुखसम्पत्तिसाधनेन शिवाध्वस्यन्दनेन दुष्कर्म्ममर्म्मशिलोच्चयच्छेदनसङ्क्रन्दनेन घनाघनेनेव विनयाङ्कुरविपिनमुल्लास्य आलस्यं च परास्य सुस्फीतिपुण्यप्रीतिस्यूतसद्युक्तिभक्तिभावं प्रकाशसञ्ज्ञवो गलितमन्यवो विज्ञपयन्ति । पुनरेतदर्थसङ्ग्रहश्चेत्थम्—

नम्यान् प्रणम्य सम्यक् श्रीअणहिलपत्तनाभिधानपुरे ।
संस्थायुकान् सतन्त्रान् श्रीमज्जिनभद्रसूरिवरान् ॥ १ ॥
श्रीसिन्धुदेशमध्यगमल्लिकवाहणपुराज्जगत्ख्यातात् ।

जयसागराभिषेका वन्दित्वा ज्ञापयन्तीत्थम् ॥ २ ॥

तथा च—

इह हि मिहरकरस्पृष्टानि पुण्डरीकाणीव सदुपकारतुष्टानि सज्जनजनमनांसीव धाराधरधाराहतकदम्बवृन्दानीव च विलसदुल्लासपेशलानि सुखविजयारोग्यसुभगम्भावुकानि भविकानि श्रीमत्पादप्रसादसम्पदोत्सर्प्पमाणानि प्रोज्जृम्भन्तेतमाम् । दूरापसारितामितशोचनं तमस्तोमविरोचनं सुखसम्पत्तिसंयोजनं प्रीणितसज्जनजनं अकाण्डामृतकुण्डमज्जनं प्रयोजनं चादः—तथा, समायासीदसीममहिमप्राज्यश्रीपूज्यराजप्रहिता सर्वजनमहिता हितावहस्वरूपपक्षभरं विस्तारयन्ती सन्मानसप्रिया नालीकवदना मधुरवाक्यपेशला कोमलपदपाङ्क्तिर्लिखितिकलहंसिका चिरकालादस्मत्करकुड्मलकमलाऽलङ्करिष्णुभावमिति । सा च तत्रत्य तत्तदशेषविशेषप्रख्यापनकूजनेनास्मन्मनःपरितोषमपुषत् । सा कथमिव वर्णनातिगगुणा वर्ण्यते, या कुमुद्वतीवातीव विमलसितपत्रप्रतिष्ठिता नालसहिता च लसन्नीलमणिवर्णनीयसुवर्णसवर्णाक्षरदक्षरभ्रमरमालालङ्कृतमध्यभागा निरुपमतमनवनवलसद्रसमकरन्दबिन्दूद्भावनेन भव्यालिं तर्प्पयामास । यां चात्यद्भुतप्रचितसुरचनवचनचातुरीचारूक्तियुक्तसूक्तवर्ण्यवर्णक्रमन्यासमञ्जुलां निभालयन्तो विस्मयविस्मृतनिमेषतया निवातनिश्चलनीलोत्पलपलासायमानलोचनास्तत्तदर्थकौतुकाकूततरलितमनसो विद्वांसो बोभूयांचक्रिरे । यथा च पर्यन्यवृष्ट्येव विविधबन्धुरमधुरसद्युक्तिप्रकारसमाचारामृतासारं वर्षन्त्या तुष्टिपुष्टिश्चतुरचेतश्चातका निरातङ्काश्च चेक्रीयांचक्रिरे । यस्यै च शरद इव नाना सहृदयजनहृदयजलाशयपङ्कशोषिण्यै सर्वजगत्तोषिण्यै कुवलयोल्लासपोषिण्यै समस्तशस्ताशाप्रसन्नीकुर्वन्त्यै स्पृहयन्ति साधुराजहंसाः । यस्याश्च चञ्चद्वल्लर्या इवोच्चैः सरससदुक्तिसूक्तफलपटलैर्मनोबालकं रमयन्ति सन्तः । यस्याश्च बहुलरत्नापूर्णायाः परमोदकानुभावाया विलसद्गाम्भीर्यगुणवर्याया

उल्लसदविरलोज्ज्वलानवद्यगद्यमालामाद्यत्कल्लोलायाः स्फुरद्धेतुयुक्तिजातसम्पातवक्रनक्रचक्रदुरधिगमायाः पयोधिवेलाया इव मध्यं कथमप्यवगाह्य विबुधबुद्धिवेढाकष्टेन कथञ्चित्पारीणभावमनुबोभूयते । यस्यां च सरस्यामिव मधुरघनरसप्रशस्यायां जगज्जन्तुतापव्यापनिर्वापपरायां चातुरीलहरीभिरुल्लसन्त्यां भारती भगवती हंसीव हसन्तीवोल्लसन्तीव वसन्तीव स्नान्तीव मज्जन्तीवोन्मज्जन्तीव किलन्तीव क्रीडन्तीव साक्षादिव नित्यं लक्ष्यते । किं बहुना ?—

विनाञ्जनं लोचनयोर्विकाशनं ह्यनभ्रवृष्टिश्च वपुष्यतर्किता ।
विनापि राज्यं सुखसम्पदासी त्किमप्यपूर्वा गतिरेतदीया ॥ १ ॥

अपि च—

नयनसुखदां पायं पायं मुहुर्नयनाञ्जलैः
सुचिरमपि यां ग्राहं ग्राहं मुदाकरकुड्मलैः ।
हृदयनिहितां कारं कारं स्फुरत्पुलकाङ्कका
वचनविषयातीतं तोषं परं स्म लभामहे ॥ २ ॥

सा तादृक्षा क्षपितजगत्तापा स्वमुखावस्थानभव्यजनतत्तदगण्यपुण्योपकारविधाननवनवस्थानविहरणश्रीमज्जैनमतप्रोत्सर्प्पणतत्तदन्तिपदध्यापननानाधर्मोत्सवविधापनवरव्याख्यानविधानादिरूपशुभरूपस्वरूपनिरूपणदीपिका यथावसरं तदनागमहिमागममुकुलितास्मन्मानसानन्दमाकन्दवृन्दोल्लासिनी वसन्तर्तुरिव सदाऽह्नाय प्रसह्य प्रसाद्या । तथा वयमत्र विघटमानकमलकोशमध्यनिर्गच्छदतुच्छोत्साहवशमाद्यन्मधुकरझङ्कारकृतप्राभातिकमङ्गलध्वनौ सङ्घटमानचटुलचक्रमिथुनपृथुप्रमोदौजस्विमञ्जुकूजनकोलाहलिनि सञ्जायमाने विभातसमये, अपराशासंसर्गरङ्गद्रागात्मपत्यवलोकनोत्पन्नमन्युवैमुख्यां प्राचिदिग्विलासिनीं कोमलतरैः स्फुरत्कश्मीरजरजोराजिमञ्जि-

मजित्वररञ्ज्यत्कौङ्कमाम्भःशुभत्कौसुम्भकुसुमकिंशुकशुकचञ्चुचञ्चुरचलत्कि-ङ्किल्लिपल्लवहिङ्गुलप्रवाललीलामनुभवद्भिः प्रसृत्वरैः करप्रसरैः प्रसादयितु-मिव प्रसाधयति स्पृशति जगत्प्रवाधिप्रबोधप्रथमप्रारम्भमङ्गलकलशायमान-मण्डले मार्त्तण्डे कलहंसशावकेषु प्रथमोन्निद्रैपूनमुद्रितलोचनेषु तत्कालो-ज्जृम्भमाणकमलाकरकेशरैः कल्पवर्त्तं कुर्व्वत्सु सद्भक्तिभावोल्लासभाजनज-नितजिनसभाजनसभाजनस्वान्तपोतकान् मधुमधुररसेक्षुरसपायसमाधुर्यजैत्र-श्रीवामेयचरित्रगतोपदेशपेशलपृथुलप्रातराशप्रदानेन पुण्यपुष्टिभाजःसम्भा वयन्तः,मध्यंदिने मतिशीलगणि–सम(य)कुञ्जरमुनि–स्थिरसंयममुनी-नधीतज्येष्ठक्षेत्रसमासादिधर्मप्रकरणान् कर्मग्रन्थं कर्म्मविपाकाख्यमध्या-पयन्तस्तद्द्वयं चाभिनवकाव्यशिक्षायां योजयन्तः, रत्नचन्द्रक्षुल्लकं चाधी-यमानस्वाध्यायं शब्दब्रह्मव्याकरणमधिजिगापयिषन्तः, परान् निर्ग्रन्था-नपि तत्तल्लक्षणान्वेषिकीनिघण्टुस्वाध्यायादिग्रन्थपाठनेन यथासमयं सग्र-न्थानादधानाः, वनीपाला इव नवनवागमान् कदाचित्सारयन्तः प्रमादपि शुनोपप्लवाच्च निवारयन्तः, कदाचिदुच्चावचाभिग्रहोपचितपवित्रव्रतजात्य-विटपिनो भव्यजनस्वान्तमृदुलतमक्षितितलप्ररूढान् सदुपदेशशंवरयोगेन प्रौढिं प्रापयन्तः, कदाचिद्दन्तिषन्मतिव्रततिकाः शास्त्रतात्पर्यपर्यालोचन-प्रकारमण्डपोन्मुखीः समारचयन्तः, कदाचिद्वनीपाला इव विविधविषय-नयस्वरूपसात्म्यं परिभावयन्तः, कर्हिचिच्चापणिका इव प्रमाणप्रमेयव्यव-हारचातुरीं परीक्षमाणाः, कदापि महासुरसेनाञ्चितं नव्यं काव्यं देवा इव निबध्नन्तः, कदाचिद्धुधवद्देवगुरुसान्निध्यात्तुष्टिपुष्टिभाजः सांयमानाचार-णीयान् योगान् समग्रानपि यथाकालं यथार्हं प्रयुञ्जानाः, आवश्यकेषु तेषु तेषु धर्म्म्येषु कर्म्मसु कृतावधानाः, कदाचित्संयममयात्मारामे मनो-मयूरं रंरमयन्तोऽनूपदेशा इव सर्व्वतः कुशलताप्रधानाः श्रीपरमेष्ठिवर्द्धमान-महामन्त्रविद्याबीजाक्षरस्मरणात्रिषवणेन सर्व्वाङ्गीणं पापतापं न्यक्कुर्वाणाः

श्रीमच्छ्रीपूज्यराजवर्यपादप्रसादसौधमध्यासीनाः प्यानशुभध्यानं दधानाः, सपरिच्छदा विशदसमाधिनिस्तुषसुखविजयारोग्यसमाधिशुद्धा वेविद्यामहेतमाम् । तथा शुभवद्भिस्तत्र भवद्भिर्मदन्वमहत्तरैर्यल्लिलिखानमासीद्–"यद्युष्माभिः केषु केषु स्थानेषु पुरेषु ग्रामेषु वा विहृतं ! क्व वा तीर्थे यात्राविशेषधर्म्मकर्म्म शर्म्मैकार्यर्जितं ! आगन्तुकलोकवार्तया तु भवन्तो नगरकोट्टाय प्रतिष्ठासवः शोश्रूयांचक्राणास्तत्त्वं तु सम्यक्तया न जानीमः, तेन स्वकीयविहारयात्राप्रकारादिविशिष्टज्येष्ठपुण्यात्मकः समाचारोऽस्मच्छ्रुतिशष्कुलीवलयावगाही विधेयः" इति । तत्रार्थे क्षणमेकं दत्तावधाना अवधारयन्तु गच्छेशाः, यथोत्तरार्हा भवामः ।

तथा च—

इतः पूर्वमपूर्वसुपर्वश्रेणिरमणीये श्रीदपुरुपोत्तमाश्रमे स्वःसमे श्रीमम्मणवाहणपुरोत्तमे पुरातनीं चतुर्मासीमसीमसुखसम्पत्त्या सूत्रयांचक्रिम । तदनु च सं० सोमाकसुत-सं० अभयचन्द्रमेलितेन सङ्घेन समं श्रीमरुकोट्टमहातीर्थं भवाम्भोधितीर्थं पृथ्वीभक्तयो वयमवन्दिष्महि । ततश्च क्षेमेण मम्मणपुरे परमं प्रवेशोत्सवमनुभवन्तः ससङ्घा वयं प्राप्ताः ।

इतश्च—

फरीदपुरमित्यस्ति पुरं परमवैभवम् ।
बहुधान्यधनसम्पन्नं सम्पन्नोज्झति यल्लणम् ॥ १ ॥
यदेव देवगुर्वाज्ञासज्जसज्जनसङ्कुलम् ।
पदं मुदामुदाराणां ताराणामिव पुष्करम् ॥ २ ॥
दीनदर्शं दयन्ते ये दयन्तेऽर्थिजने धनम् ।
दीयते दुरितं तेषां धर्म्मध्यानानुभावतः ॥ ३ ॥

श्रीमज्जिनेन्द्रशासनप्रभावकाः श्रावकाः शुचिमनस्काः ।
निवसन्ति तत्र वहुला वहुलाभा लसितलक्ष्मीकाः ॥ ४ ॥
(युग्मम् ।)

तदा च लब्धावसराः स्फुरत्सद्भावभासुराः ।
तेऽस्मानभ्यर्थयांचक्रुर्विहर्त्तुं स्वपुरं प्रति ॥ ५ ॥

प्रास्थिष्महि ततस्तस्मात्तदाग्रहवशाद्वयम् ।
साधुभानुसमीराणां स्थितिर्नैकत्र युज्यते ॥ ६ ॥

क्रमेण द्रोहडोट्टादीन् ग्रामानुद्दामवैभवान् ।
मध्ये कृत्योत्सवे प्राप्ताः श्रीफरीदपुरं पुरम् ॥ ७ ॥

तत्र च विविधधर्म्मोपदेशामृतसेकेन भव्यलोकविवेकाङ्कुरानुज्जीवयतां जिनमतं प्रभावयतां कांश्चिद्ब्रह्मक्षत्रियब्राह्मणादीन् जिनमतानुगभक्तीन् कांश्चिद्भद्रप्रकृतींस्तैस्तैर्द्धर्मोपदेशैः कृतार्थयतां सतां सपरिच्छदानां समाधिसमृद्धो वंहीयाननेहा व्यतीयाय ।

अन्यदा च प्राचीमुखमण्डने भानुमति जायमाने जगद्व्यवहारहेतौ प्रत्यूषसमये आसीनायां राजन्यवाणिज्यब्राह्मणादिपरःशतोत्तमजात्यजनपर्षदि धर्म्मोपदेशक्षणं क्षणादासूत्र्य निवृत्तेष्वस्मत्सु गायनेषु च कलस्वरताललयमानबन्धुरां गीतिमुद्गायत्सु, अकस्मादतर्कितः कुतोऽपि—

धूलिधूसरितकूर्चकुन्तलो वामहस्तविलसत्कमण्डलुः ।
क्षामकुक्षिरतिवीथ्यतिक्रमात्कोऽपि जीर्णवसनोऽध्वगोऽभ्यगात् ॥ १ ॥

आगत्य चोचितं विनयं व्यञ्जयन् समुदितमना मनागुन्नमितोत्तमाङ्गः पुरस्तादासांचक्रे । वयमपि सदाकृतिरिति तमाभाषयांचक्रम । "भोस्तीर्थयात्रिक ! पथिक ! कुतः प्रष्टव्योसि ? केषु केषु तीर्थेषु दृष्टपूर्वी भवान् ?

'नानादेशविहारिणः खल्वपूर्वापूर्वस्थानदृश्वानो भवन्ति ।' तत्कथय काञ्चिदपूर्व्वामृतायमानां किंवदन्तीम् । परितोषय क्षणं पर्षदम् ।" असावपि 'श्रूयतां महाभागाः ।' इत्यभिधाय सुधाकिरा गिरा भणितुमारभत ।

तथा च—

" अस्त्युत्तरस्यां दिशि सञ्चितः श्रिया स्त्रीपुंसरत्नोत्कररोहणाचलः ।
देशस्त्रिगर्तोऽर्चिहरोऽधिवासिनां तीर्थैर्गरीयानचलैरिवात्र यः ॥१॥

तत्रापि पावनं तीर्थं श्रीसुशर्म्मपुरे परम् ।
दृशोरध्वन्यतां याति पुण्यैरेव हि देहिनाम् ॥ २ ॥
देवाधिदेवनाभेयादिमान्नत्वाऽऽलयस्थितान् ।
द्वेधापि परमानन्दप्राप्तं स्वं मन्यते बुधाः ॥ ३ ॥
तीर्थमनादियुगीनं वाङ्मानसागोचरप्रभावाढ्यम् ।
यैर्द्दष्टं दृष्टिभ्यां तैर्द्दष्टव्यं जगति दृष्टम् ॥ ४ ॥
ते धन्यास्ते सुजन्मानस्तेषां वर्ण्या च वैदुषी ।
गत्वा जालन्धरापीशानानृचुर्ये जिनेश्वरान् ॥ ५ ॥
म्लेच्छव्याप्तेषु देशेषु निखिलेषु कलौ युगे ।
निरत्ययं हि तत्तीर्थं मराविव सरोवरम् ॥ ६ ॥
तस्य तीर्थस्य महात्म्यं कियद्वच्म्यपटिष्ठधीः ।
तदुपास्य ततः पश्चाद्धन्यं मन्योऽत्र चागमम् ॥ ७ ॥

तदेतदत्यद्भुतं स्वदृष्टमुक्तं वाच्यं न्यक्षेण तद्विदांकुर्व्वन्तुः । गन्तव्यो नोऽद्यापि महानस्तिपन्थाः । " इत्यभिधाय स प्राचालीत् । तदनु च तया वार्त्तया हृतमनस्का इव चित्रलिखिता इव सञ्जातरणरणका इव आग्रहग्रहिला इव वयं ससम्भ्रमा बभूविम । मनसीत्थं विचारितवन्तश्च यदुत म्लेच्छाकुलेऽस्मिन्नपि नीवृत्यभ्येत्य तत्तादृगमिथ्यादृग्दुष्टजनानन-

निभालनोत्पन्नमालिन्यमलस्पृशोर्दृशोर्विमलतानिदानतत्तथाविधतीर्थदर्शन-सुधासरःसम्पर्केण विशदता नापादयिष्यते तर्हि ' भृते सरसि तृषा, सिद्धे परिवेषितेऽप्यन्ने बुभुक्षा, सति विभवेऽपि दारिद्र्यं, समुदिते भानौ तमः ' इति न्याय आयातः। ततो येन केनापि प्रकारेण यथा कथञ्चिदेषा यात्रा समासूत्र्यते तदा साधु, अन्यथा पुनः क्व वयं क्व च **श्रीनगर-कोट्टाख्यं** महातीर्थमिति मनोरथोऽस्मन्मनः पूर्व्वाद्रौ हिमांशुरिवोदैषीत्। एवं च ते ते श्रावका अपि यात्रायां जातोत्कण्ठा वयमिव भृशं बभूवुः।

विशिष्य च तदा—

साधु**राणा**सुतश्रेष्ठाः शिष्टाचारानुसारिणः।
निवसन्ति त्रयस्तत्र त्रयो वर्ग्गा इवाङ्गिनः॥ १ ॥
तेषु प्रथमकः **सोमो** धर्म्मकार्यधुरन्धरः।
द्वितीयः **पार्श्वदत्तो**ऽस्ति **हेम**स्तु गरिमासदम्॥ २ ॥
तत्र तद्योग्यतां मत्वा तत्कार्यं तेभ्य एव हि।
उपदिष्टं तदाऽस्माभिरुत्तमं ह्युत्तमोऽर्हति॥ ३ ॥
ते चैवं चिन्तयांचक्रुस्ततः शुद्धाशया रहः।
यायावैर्धनभारैः स्थावरं पुण्यमर्ज्यते॥ ४ ॥
गुरूपदेशाच्चेद्यात्रां कुर्म्मोऽत्रावसरे वयम्।
निर्म्मलं सुकृतं कोशे विश्वे कीर्त्तिश्च तादृशी॥ ५ ॥
इति ध्यात्वा स **सोमेन्दुः** सबन्धुः साहसाग्रणीः।
क्षमाश्रमणदानेन यात्रोपक्रममादधे॥ ६ ॥

ततश्च सुमहर्द्धिकः सपरिच्छदो यावता तत्तत्सान्निवेशेषु सङ्घम-हाजननिमन्त्रणमहामन्त्रप्रणिधानपुरस्सरं तत्सङ्घसम्महनिकायां प्रवृत्तः, तावता वयमपि तत्रत्य सङ्घाग्रहेण **श्रीमाबारषपुरं** श्रद्धालुगृहशतसङ्कुलं समुपेयृम।

तत्कीदृशम्—

धार्मिकोऽपि जनो यत्र चित्रं जीवार्द्दको न हि ।
न-चापविद्याकुशलो मार्ग्गणानपि नास्यति ॥ १ ॥

तत्र च वर्त्तमानाः कांश्चन परतीर्थ्यानपि जिनशासनानुकूलमनस्कान्, कांश्चन नवनवाभिग्रहविशेषप्रदानैश्च श्राद्धानिव वाडवक्षत्रियवैश्यान् कृतार्थान् कुर्वन्तस्तथाविधधर्म्मोपदेशोल्लसद्देशनाप्रदीपकलिकोज्जृम्भणेन कापथसञ्चरिष्णून् जनान् सत्पथपान्थतां कांश्चन प्रापयन्तः पुण्यफलाः कियतीरपि कालकलास्तत्रैवातिवाहयांबभूविम । अन्यदा च, तथाविधसर्वविकृतित्यागमयाभिग्रहग्रन्थिं समाप्तिसत्यंकारानुरूपवस्तुक्रयविक्रयव्यवहारिणा पितृहरिश्चन्द्रसहचरेण सा० शिवराजसुश्रावकेण परमनैष्ठिकेन समाचञ्चूर्यमाणे सङ्घवात्सल्येऽनुतेष्ठीयमाने च सङ्घसत्कारे तोष्यमाणे यथौचित्येन याचकस्तोमे गायत्सु सर्व्वलोकप्रकटं गायनेषु परिसर्प्पत्याकाशं स्वर्गिणामिदं वृत्तं निवेदयितुमिव वादित्रनिनादे शुभवेलायां ग्रामठकुरादिलोकसमक्षं श्रीआदिजिनप्रतिमां प्रत्यतिष्ठिपाम-तमाम् ।

एवं तोष्टूयांचकृम च ।

ततंतुतातो तीतेतिः, तांतांतांततेतोततुत ।
नूनांनिनुन्ननानैना अनेनो न इनो ननु ॥ १ ॥
सम्पन्नमोक्षावसथो विकल्मषः समापयंस्तामसमर्यमोपमः ।
सनातनोद्दामसमृद्धिदेशस्यः स वः मदत्तामसमं समुद्धरम् ॥२॥
वन्दितो वृषभेश ! त्वं महामहिममन्दिर ! ।
महाशयस्य भक्तस्य समाधिभरमीश्वर ! ॥ ३ ॥

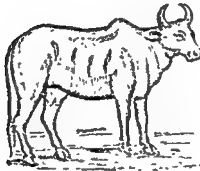
(अष्टारचक्रम्, परिधिश्लोकः, क्रियागूढश्च ।)

तदित्थं सङ्घकार्यमाचर्य तत्कालागत-सा० रामा-सा० सोमा-हेमा सा० देवा दस्सू-पुरस्सर-फरीदपुरीयसङ्घामन्त्रणेन ततो विहृत्य पद्धत्यन्तरालायातेषु तेषु तेषु बहलभक्तिभावमञ्जुलविपुलश्रद्धालुकुलमण्डलाभिरामेषु ग्रामेषु तत्रत्यजनकारितानुत्साहोत्स्तृतपताकापल्लवान् पदे पदे प्रवेशोद्धवान् साक्षात्कुर्व्वन्तः क्रमेण प्रस्तुतास्पदमलमकार्ष्म । ततश्च सङ्घो गणकमुपवेश्य सङ्घयात्राप्रस्थानमुहूर्त्तं निश्चिकाय । तदा चावसरे गुर्वास्थास्थेमभाजः सुबहवो बहुमन्यन्ते स्म । यदुतेदृशे विषमदेशकालादिभावेऽप्यचिन्त्यादृष्टसामर्थ्यादमूदृशं नाम कार्यं सरेदपीति । केचन पुनः कथञ्चित्तथाविधव्यवहारेण यात्राकारिष्वगारिषु साभ्यसूयास्तदून्नतिं भाविनीमसहिष्णवो ऽन्यथाऽन्यथा व्यब्रुवन् । केऽपि च मध्यस्थाः कालादिभाववैषम्यं ज्ञापितवन्तः, 'यदेतादृशेन सङ्घेन दूरदेशान्तरप्रस्थानं न युज्यते' इति । महाकार्यारम्भे सुलभे एवं विधे लोकवादे क्षणं दोलारूढमिव नश्चेतः समभूत् । ततः पारिणामिक्या बुद्धयेति मीमांसामहे स्म । यदुत, लोकः खलु परविघ्नसन्तोषी, यद्वा लोकवाक्यानां नैकः प्रकारो; यदि तादृग् लोकवाग्मात्रेण स्थीयते तदा द्वयोरपि न शोभा; न स्वयशो नापि परयशो रक्षितं स्यादित्येतत्कर्म्म निर्म्मितं वरम्, अनिर्म्मिते तु कृत्ये मनोमनोरथासिद्धेरसमाधिः सार्वदिकः, परेषां च प्रस्थायुकानां कलौ कालमुख्यमाविर्भविष्यति । ततश्च मनो यावन्मनाक् सत्त्वे प्रतिष्ठाप्य श्रीदेवराजपुरमण्डनकुशलशब्दाङ्कितगुरोर्वाञ्छितकल्पद्रोः प्रणिधानजं स्फुटरूपमुपदेशबलमासीसदाम । तदेतत्पिपासितस्य सुधापाननिमन्त्रणं नृत्येच्छोर्घर्घरस्रग्बन्धनं भृशमुन्मनीभावमुदपीपदत् । ततश्च तदादेशेन सन्नाहेनेव स्वचेतःशरीरं सन्नह्य साध्यसिद्धौ नितरां बद्धाध्यवसाया जातवन्तः । धर्मो जयति । त एव पूर्व्वगुर्व्वादयः शरणमिति कृत्वा । इत्यलं विस्तरेण । प्रकृतं प्रस्तुमः ।

अथ च शोभने दिने प्रशस्ते मुहूर्त्ते शुभकर्म्मप्रायोग्ये च योगे प्रियंकरणे उच्चैर्गृहस्थेषु ग्रहेषु सौम्यस्वामिदृक्सम्पन्ने लग्ने यात्रार्हे च नक्षत्रे वर्त्तमाने सा० सोमाकेन श्रीतीर्थप्रणीनंसया च प्रेरितपरमप्रमोदोल्लासेन चोत्साहितः श्रीसङ्घः प्रस्थानमङ्गलमसाधयत्।

मङ्गलं भगवान् धर्म्मो मङ्गलं जिनशासनम्।
मङ्गलं तन्मतः सङ्घो यात्रारम्भोऽतिमङ्गलम् ॥ १ ॥

इत्येषा विज्ञप्तित्रिवेण्यां प्रस्तुतार्थप्रस्ताविका सरस्वतीकल्लोलाख्या प्रथमा वेणिः ॥ १ ॥



॥ अथ द्वितीया वेणिरारभ्यते ॥

तथा च, श्रीसङ्घस्य प्रयाणावसरे शुभोदर्कसम्पर्कशंसिभिः शकुनैश्चेत्थं विजृम्भितम्, यथा सङ्घस्य प्रस्तुतपुण्याशासाफल्यं सम्भावयन्त्य इव सावशेषा आशाः पुण्यप्रकाशा आसन्। परमाराध्यसान्निध्यकृतमार्गविघ्नभञ्जनस्य यात्रिकजनस्य भाविसुखव्यञ्जना इव प्रभञ्जना अनुकूलं ववुः। नास्ति किञ्चिद्युष्माकमवामदैवानां दुर्गममिति कथयन्तीव दुर्गा वामा शब्दं चकार। शङ्कुकर्णोऽपि स्वात्मनि प्रस्तावदक्षतामिवारोपयन् वामदिग्भागमाश्रित्य कोकूयामास। मौक्तिकाख्यः श्वा सव्याहां श्रयन् साधूनां प्रस्थानमङ्गले सान्निध्यमिव व्यधात्।

अपि च—

कुम्भोऽम्भोनिभृतोऽभ्यगादभिमुखं शङ्खो जुघोष क्षणं
क्षोणीशाभिगमः सवत्ससुरभीरीक्षा च ढोलध्वनिः।
फेरुर्वामरवश्चुकूज मधुरं जातस्वरस्तित्तिरि-
रेवं सच्छकुनावलीद्विगुणितोत्साहा वयं प्रस्थिताः ॥ १ ॥

ततश्च नातिदूर एव जम्बूकदम्बनिम्बसर्जार्जुनखर्जूरीप्रभृतिवनस्पतिश्रेणिसच्छाये बहुलकमलकिंजल्ककल्ककलितसौरभभास्वरेण सरित्तुङ्गाभ्रंलिहलहरिलीलांदोलनोद्धूतपृषतशीतलेनानिलेन सेवनीयतया मनोहारिणि मुक्ताकणशङ्खवलक्षसिकतोल्लसद्भासि विपाट्तटिनीरोधसि सङ्घः प्रथमप्रयाणविराममकरोत्।

ततश्च—

विकचकुवलयास्या सम्भ्रमद्भृङ्गमालो-
ज्ज्वलबहलकटाक्षी पीनचक्रस्तनाढ्या।

जलवेणिमरम्या दर्शिताऽऽवर्त्तनाभि-
श्चललहरिभुजाभ्यामाह्वयन्तीव दूरात् ॥ १ ॥
कासहंसपरिहासलीलया तं रिरंसुजनमुत्सुकयन्ती ।
नव्यशष्पवसना व्यलोकि सा सिन्धुदम्भवशतो वराङ्गना ॥२॥
सन्मार्गरोधिनीं सर्वपथीनां तां च निम्नगाम् ।
शुद्धामिव मन्यमाना अतिचक्रमिम क्रमात् ॥ ३ ॥

तामुत्तीर्य च क्रमेण श्रीसङ्घो नानाग्रामानिवाऽऽरामानुल्लङ्घयन् श्रीजालन्धरानन्नु प्रचचाल । चलिते च तस्मिन्विस्मितान्यलोके सकलमहीवलयलङ्घनजङ्घालाः करकृतकरवाला महाभुजा भुजाबलमबलसम्पत्तयः पत्तयः केचिद्याष्टीकाः केचिद्धलाधिकाः पारश्वधिकाश्च, केऽपि दृढवपुष्का धानुष्काश्च,केचन वीरकोटीराः काण्डीरा नैस्त्रिंशिकाश्च प्रोल्लसन्तः कूर्दन्तः पुरः स्फुरन्तो गर्जन्तो नानारूपभाषा मूर्त्ता वीररसांशा इव स्वामिकार्यदक्षा बद्धकक्षाः पुरस्तादुच्चेलुः । तत्पृष्ठे च सौरीमध्या विशिष्टा भूयिष्ठास्त्वरया तुरगानपि मन्दगतिकानिव सम्भावयन्तः प्राचालिषुः । इत्थं च ते ते सङ्घजनाः केचिद्वाहनारूढाः केऽपि गुरुदेवभक्त्यतिशयात्पादचारिणः केऽपि मुक्तोपानहश्च वयमिव प्रस्थितवन्तः । तदा च प्रचलत्सङ्घजनानन्नोल्लसद्बहलकोलाहलनिनदैरासन्नवननिकुञ्जेष्वकाण्डकल्पान्तापातातङ्कशङ्काशङ्कुशल्यितमनसः सम्भावितापदः श्वापदाः कान्दिशीकाः कथञ्चित् क्वापि निलीयावतस्थिरे । अन्यच्च तीर्थयात्रामनोरथप्रथितपृथुप्रभावात्साधस्यानघस्य श्रीसङ्घस्य क्रमस्पर्शवशोल्लसत्सुकृतेन निराकृतांहोव्रजं तु रजोऽप्युच्चैर्विचचार ।

तथा च—

नियतं सङ्घलोकाङ्घ्रिमिलचोद्भूतो रजोभरः ।
धन्यंमन्यतया मन्ये नृत्यति स्म नभोऽङ्गणे ॥ १ ॥

एवं चाविच्छिन्नैरेव प्रयाणैर्निर्वृतिस्थानानि पुराणीव वनानि मुञ्चन् वल्लभारागोचितानि तरुणचित्तानीव वप्रान्तराणि साक्षात्कुर्व्वन् पच्यमानगोधूमसङ्कुलानान्त्यजपाटकानिव क्षेत्रसीम्नः सुदूरं त्यजन् क्रमेण निश्चिन्दीपुरीपरिसरसरोवरान्तर्व्वर्त्तमानोद्दामविपिनोद्दण्डपद्मखण्डान्तरे कलहंसकलामनुभवन्निवासांचकार श्रीसङ्घः।

अपि च—

कृताश्रितपरित्राणः सुरत्राणोऽस्ति भूधवः।
परन्तपः पुरे तस्मिन्नाके नाकपतिर्यथा ॥ १ ॥
सोऽथाऽऽकर्ण्य सकर्णानामग्रणीः सङ्घमागतम्।
चित्रीयमाणहृदयो द्रष्टुं सोऽप्यौत्सुकायत ॥ २ ॥
तुङ्गाङ्गतुरगारूढः प्रौढामात्यादिसङ्गतः।
अदृष्टपूर्व्वान्निर्ग्रन्थानुपेत्योचितमाचरत् ॥ ३ ॥
अपूर्वदर्शनान् साधून् दर्शं दर्शं नरेश्वरः।
विसिष्मिये समं पौरै राजहंसान्मरुर्यथा ॥ ४ ॥
तैस्तैस्तथाविधैर्धर्म्यैरुपदेशैः सुरञ्जिताः।
प्रमोदमेवं मनुजास्तदा पुरीश्वरादयः ॥ ५ ॥

(गुप्तक्रियः।)

" वनमप्यभवद्धन्यं नगरी तु गरीयसी।
प्रदेशोऽयं प्रशस्योऽभूद्येन यूयमुपागताः ॥ ६ ॥
पुरा श्रुताः स्थ गोष्ठीषु श्रुतिभ्यामभ्युपायतः।
पुण्योदयेन नः प्राप्ताः साम्प्रतं दृष्टिगोचरम् " ॥ ७ ॥
एवं स्तुत्वा च नत्वा च भूमानानन्दतुन्दिलः।
सम्मान्य सङ्घपं वेगात्ततो धाम जगाम स ॥ ८ ॥

विपाशापयसा छिन्नपिपासाः सङ्घपूरुषाः ।
स्वगेहनिर्विशेषेण सुखेन प्रस्थितास्ततः ॥ ९ ॥

सर्वतो विसारिणीं सरिल्लक्ष्मीं वामतः साक्षात्कुर्वतामधोऽयो विविधपादपान् सञ्चरतां तेषां व्यतीते कियत्यपि पथि साधुरिव परमोदकः सचित्तप्रकाश इवालब्धमध्यः स्त्रीचरित्रप्रकार इवासुगहनः क्षत्रिय इव महासत्त्वाढ्यः क्रीडत्कुररुकेकिचक्रचक्राङ्गचक्रवालशालितपरिसरः विस्मेरारविन्दवृन्दो महानेको नदः पुरो दृग्गोचरमवततार । दृष्ट्वा चेत्यूहांचक्रवांस ।

नूनं यानतया निषेव्य सुचिरं धातारमाऽऽतूतुषद्
हंसः स्वीयकपक्षिजातिनियतस्थानाय चाभ्यार्थयत् ।
तुष्टोऽसौ तदिदं पदं हि विदधे व्याधाधगम्यं क्वचित्
तस्मादत्र पतत्रिणः प्रमुदिताः क्रीडन्त्यहो निर्भरम् ॥ १ ॥

परितोऽपि विसारिणा परितं पयसाऽत्यच्छगभीरभावभाजा ।
वनमेतदुदभ्रराजधानीमिव सेवन्ति सुखं विहङ्गराजाः ॥ २ ॥

अपि च—

स्मितकोकनदं नदमभि रभसा सम्भूय सारसा एते ।
विद्रमकरन्दास्वादनमत्ताः क्रीडन्ति निर्व्रीडम् ॥ ३ ॥
अभिकजमकरन्दमापतन्तीं स्थूलोन्नीलसशद्बभृङ्गमालाम् ।
अवलोक्य शिखी घनभ्रमेणोत्केको नृत्यति मासयत्कलापम् ॥ ४ ॥

एवं च समन्तान्नदश्रियं केनचिद्वनेचरेण वर्ण्यमानां श्रुत्वा द्रष्टुमिव रविरुच्चैः पुष्करदेशमारुरोह ।

तदा च—

सारङ्गास्तरुकोटराणि शरणीकुर्व्वन्ति तापार्द्दिता

हित्वा रङ्गममी विहङ्गमगणाः कुञ्जं भजन्तेऽञ्जसा ।

वीथ्यः पान्थनखंपचोच्चरजसा जाता अमूर्दुर्गमा-

स्तेजोराशिभिरुत्सृते दिनपतौ जाते ललाटंतपे ॥ ५ ॥

अयं नदपरिसरः, एते च सान्द्रद्रुमच्छायाः प्रदेशाः, एतेच तुङ्गतुरङ्गोद्गृहीतपृषतशीतला अनिलाश्च यथासमयोपपन्ननिरुपाधिसुखसाधनं तदस्य वचनं तथ्यं सम्भावयंस्तत्रैव सङ्घजनः समग्रोऽपि स्थितिं व्यरचयत् ।

अथ च—

प्रदेशे सजले केऽपि तस्थुः केऽपि तरोस्तले ।

आर्द्रदूर्वावणे केचित्पान्थानामीदृशी दशा ॥ ६ ॥

हंसवत्सुचिरं कृत्वा जलकेलिं नदाम्भसि ।

केऽपि निर्व्वापयामासुर्मनांसीव वपूंष्यपि ॥ ७ ॥

समाधिमानसौ जातः प्रयाणमकरोत्ततः ।

अथ क्रमात्समायातस्तलपाटकसन्निधिम् ॥ ८ ॥

तत्पुरोपवनेषु चतुष्पथेष्विवोद्गन्धिसौगन्धिकेषु मन्दमृदुमरुदन्दोलिताभिर्लताभिर्वीज्यमान इवातुच्छगच्छच्छायाच्छलेन च्छत्रेणाऽऽभूष्यमाण इव पिककोकचाषादिपक्षिकेंकारैः स्वागतं तद्वनाधिष्ठात्र्या पृच्छ्यमान इव क्वापि महाशोणाभ्यर्णे कीर्णकमलमकरन्दबिन्दुवृन्दसौगन्ध्यस्पृहणीये भूभागे प्रयाणविच्छेदमकरोत्सः । तत्र च पवित्रविकसितपद्मवनरामणीयकमनालोकितपूर्व्वं निर्वर्णयन्तो जना एवमूहांचक्रुः ।

किममी सलिलाधिदेवतानां प्रत्यक्षाः प्रसरन्त्यहो ! कटाक्षाः ? ।
किमु वा शुचि तन्निवासयोग्या तासां सौधपरंपरा जलान्तः ? ॥ १ ॥

किमन्यत् ? एके पद्मवनं दृष्ट्वा निर्दिशन्तोऽङ्गुलिभिः पार्श्वगान् सौत्सुक्यमाहुः—"पश्यत पश्यत भोः ! कथममीषु कमलेषु सुगन्धलाभलोलुपा मधुपाः पतन्ति ? । कथं चाकृतपरपीडाः साध्वापीडा इव रसमाहरन्ति ? । अस्माभिरहो ! कूपमण्डूकप्रायैरियद्यावज्जन्मानुशीलितं तदपि गृहाङ्गणैर्नैर्दृष्टम्" इति । अन्ये तु दाडिमीफलेषु तेष्विव बीजपूरेषु फलितपुष्पितेषु तद्वदाम्रेषु द्राक्षाखर्जूरीषु च चक्षुः क्षिपन्ति स्म, तदभिलापपरास्सुखं नतु मुखम्; इत्येवं यावच्चदभिनवदर्शनोत्पल्लवितचक्षुरानन्दः सङ्घस्तत्र प्रदेशे यावदास्ते, तावता—

"अभिगमणवन्दणनमंसणेण पडिपुच्छणेण साहूणं ।
चिरसंचियंपि कम्मं खणेण विरलत्तणमुवेइ ॥ १ ॥"

इत्यायर्थज्ञातं कृतार्थयन्निव श्रीदेवपालपुरीयः सङ्घो गुरुवन्दको ढुर्दीके तथाविधातर्कितगुरुसमागमोत्कण्ठकितः । तदा चास्माभिरपि तथाविधोपदेशरसायनेन सम्भावितः परमास्थास्थैर्यं तथाजिनत् स्वशासने यथा मिथ्यात्वकन्दकुद्दालेषु पुरुषेषु प्रथमां रेखां सत्वात्मनः समपुषत् । ततश्च "भवन्तोऽस्मदास्पदं पवित्रयन्तु स्वपादावधारणेन" इत्यवितथकृतामर्दं तं कथञ्चित्सम्बोध्य पुरः प्रचेलियांसः । ततश्चविपाशाकूलंकषायाः कूलमनुभजन्तः क्वचिदितस्ततः क्वापिकुमुद्वतः कुत्रापि नदकीयाननूपदेशान् शाद्वलान् सरसान् दृग्गोचरयन्तो मध्यदेशं प्राप्ताः ।

यत्र गोसङ्कुला ग्रामाः बहुक्षीराश्च धेनवः ।
क्षीराणि मधुराण्यानि नकपेयानि तान्यपि ॥ १ ॥

अपि च—

कोमलचनकाहारः कनकमयाभरणजातपरिहारः ।
मुग्धगतिर्व्यवहारो ग्राम्यजनेष्वेष आचारः ॥ २ ॥
अदेयराजभागास्ते निरङ्कुशैकवृत्तयः ।
ग्रामीणा नागराँस्तस्मात्कथंकारं हसन्ति नः ॥ ३ ॥
चिरायुषः सुसंस्थानाः सुबद्धदृढसन्धयः ।
ते हि कृतयुगोत्पन्ननरेभ्य उद्धृता इव ॥ ४ ॥

अपि च—

कृतनापितकर्म्माणो हलकर्षादिकर्म्मभिः ।
पाणिपादेषु नैधन्ते नखास्तेषां शिखा इव ॥ ५ ॥
महाकूपसमुद्रेभ्यो जलाकर्षणशेमुषी ।
दृष्टा ग्रामेयकेष्वेव यदि वा धूमयोनिषु ॥ ६ ॥
कृष्णोर्णामयवस्त्राणि वसाना ग्रामवासिनः ।
माञ्जिष्ठेष्वपि वस्त्रेषु दृष्टा नित्यमनादराः ॥ ७ ॥
शास्त्रशिक्षां विनाऽप्येषां मतिः स्फुरति निस्तुषा ।
आजन्मक्षीरपुष्टानामिदं लक्षणमादिमम् ॥ ८ ॥

यत्र च—

यासां वराशयश्चोला वराशयश्च सुन्दरः ।
अतोऽल्पधनयोगेऽपि पौरीभ्योऽप्यधिकाः सुखैः ॥ ९ ॥
चण्डातकैस्तु पामर्य आपादतललम्बिभिः ।
यान्ति सन्मार्जनीकार्यं कुर्वन्त्योऽध्वन्ययत्नतः ॥ १० ॥
ग्रामस्त्रीणां न शृङ्गारो न संस्कारश्च तादृशः ।
तथापि तासां सौन्दर्यं गुणाः प्रकृतिजाः खलु ॥ ११ ॥

उच्चाश्रूढाः शिरस्युच्चैर्दधाना ग्रामयोषितः ।
या विनापि तदाधारं घटानुत्पाटयन्त्यलम् ॥ १२ ॥
पशूनां परमा पुष्टिः क्षेत्रेपूत्पत्तिरुत्तमा ।
नव्यं रसायाः साद्गुण्यमहो ! देशस्य सौष्ठवम् ॥ १३ ॥
पीयूषपानपर्याप्तिग्राम्याणां द्युसदां तथा ।
तद्वासस्थानं यो ग्रामः स किं मन्ये ऽमरावती ॥ १४ ॥
स्तन्यपानमवास्येऽपि यथेच्छं दधिभोजनम् ।
घृतं च सलिलन्यायाद् ग्राम्याणामप्यहो ! सुखम् ॥ १५ ॥

तदित्थं देशचर्यानुभवपारदृश्वरीं शेमुषीं सङ्घटयन्तस्तज्जानपदमध्यगा एव यावत्कतिचिद्दिनानि स्थाने स्थाने विलम्बितवन्तः, तावदकस्मादेकतः पोपरेशयशोरथानीकस्य, अन्यतस्तु तुरुष्काधीशशकन्दरानीकस्य च सर्वतः " इदमागतं कटकम् इदमागतं कटकम् नश्यते पलाय्यते " इत्यादितुमलारवो विश्वभयंकरो वीप्साबहुलः सर्वत्र प्रसारमापेदानः । ततश्च क्षणं किंकर्तव्यताविमूढाः पुनः अणिधेयप्रणिधानप्रधानीकृतमानसोत्साहबलाः कथञ्चिदुपलब्धतादृशोपायनिरपायास्तमस्काण्डमिव शाद्गुदममयं विड्वरडम्बरं सूर्योदयेनेव सङ्घपुण्योदयेन दूरमुज्झास्म सहसा पुनर्विपाशस्तटमुपसन्नविम । नाव्यां तां च क्षणात्समापद्य पारयित्वा कुकुदाख्यं पट्टं सङ्घटयन्तो मध्यदेश–जाङ्गलदेश–जालन्धरदेश–काश्मीरदेश–सीमासन्धिभूतं स्वाचारनिष्ठमहाजनपूतं हिरियाणाख्य–महास्थानामध्यासामासिम । तत्र च शुचिभूप्रदेशे प्रधानधान्यक्षेत्रे महाजलाशयं समया कालुकयक्षायतनस्य नातिदूरे शाद्वलसच्छायशाल्मलि महासालमूले माघमासि धवलैकादशीवासरे सर्वोत्तमवेलायां प्रस्तुतशाखापुरवास्तव्येषु मिलितेषु महाजनमेलापकेषु, परः शतैर्भट्टचट्टादिभिरुद्घाद्यमानेषु पुण्यपुरुषावदातेषु, मन्जुटधवलमङ्गलप्रवृत्तासु तासु तासु

नितम्बिनीषु, खेलनलीलामाकलयत्सु निखिलखलोच्छृङ्खलग्रामखेलकेषु, गन्धर्वविद्यां विशदयत्सु गन्धर्वजनेषु, दानधर्म्मोयोद्धूपितरोमसु जायमानेषु दातृजनवपुष्षु, पुष्यमाणेषु तैस्तैः कालोचितेषु तेषु तेषु रसेषु; सुश्राद्धाचारधूरीणस्य तथाविधोदारकार्यप्रवीणस्य साधुश्रेष्ठसोमाकस्यानिच्छतोऽपि सङ्घाग्रहात्तथाविधां योग्यतामवधारयद्भिर्विधिवत्सङ्घाधिपतिपदं व्यदायि। तेनाऽपि पात्रापात्रसापेक्षं दानमदायि। विशिष्य सङ्घोऽपि मुत्कलकरकुड्मलनिर्गतेन ताम्बूलादिना देयवस्तुप्रकारेण तथा रञ्जितो यथा प्राचीनानपि सङ्घपुरुषान् विस्मारितवान् यदि भविष्यतीति। किं बहूच्यते, ह्युत्सवोऽयं सर्वाङ्गसुन्दरः संवृत्तः। तदा च मल्लिकवाहननिवासिना साधूद्धरेण पाश्चात्यवाहनपदं गृह्णता कुलमप्युद्धृतम्। अपि च सं० मागटपौत्रः साधुदेवाङ्गजो महाधरपदमुद्धरः सम्मदात्समुपादात्। अन्येऽपि साधुनीवा–साधुरूपा–साधुभोजाख्यास्त्रयो महाधरतामेवाधार्षुः। सैलहस्त्यं तु बुचासगोत्रीयसाधुजिनदत्तसुश्रावके निदधे। एतैश्च सङ्घपत्यादिभिर्यदवदानमाधायि तद्वयं वक्तुं न शक्ताः, परन्तु तत्करणीयचिन्तनप्रभावजः पुलकस्त्वद्यापि नोदास्ते।

किन्तु—

साधर्म्मिकवात्सल्यप्रमुखो यो विधिस्तदा।
चक्रे वक्रेतराकूतैः स तैरेव भवेद्यदि ॥ १ ॥

अथ कृतकृत्येषु तेषु तेषु सङ्घपुंस्सु द्वितीयदिने तदवदानं दृष्ट्वा गर्ज्जनव्याजेन [त]द्गुणानुदगृणन् तद्दानस्पर्द्धयेवानिवारितप्रसराभिः साराभिः सलिलधाराभिः ग्रीष्मताडितां पृथिवीमाश्वासयन्नदृष्टपूर्वमहावर्षोपलवर्षेण पान्थान् यथा कथञ्चित्कातरयन्नतिप्रचण्डपवननिपातेन पटकुटीकुटीरकादि विसंस्थुलयन् माधवोऽवर्षीदिति हेतोस्तत्र महाव्रतामिता वासरा अवस्था-

नमवेक्ष्य लग्नाः । अथ सपादलक्षपर्व्वतभुवं सह सङ्घेनोलङ्घयितुं यथा वत् प्रवृत्ताः ।

यत्र च—

षट्खण्डान्यतमं खण्डं यद्वा द्वीपान्तरं किमु ।
परदेश्या विकल्पन्ते दृष्ट्वा शिलोच्चयानिति ॥ १ ॥
उच्चगां तारकश्रेणिं परिचेतुमिवोच्छ्रताः ।
शैलाश्चाभ्रंकषैः शृङ्गैर्निर्झरोद्गारनिर्मलैः ॥ २ ॥
वीथ्यां वितस्तिमात्रायां सञ्चरन्नतियत्नतः ।
जनोऽधःपातभीत्यापि साधुचर्यां श्रयत्यहो ! ॥ ३ ॥
दिवापि सिद्धाञ्जनवन्नेक्ष्यन्ते भूमिगैर्नरैः ।
वीक्ष्यन्तेऽधित्यकासंस्था वानरा इव वा नराः ॥ ४ ॥
दुर्लभाम्रफलावाप्त्यैः कर्करैः कोपयन् कपीन् ।
फलं तैरस्ततां नीत्वा जनश्चक्रे समाहितः ॥ ५ ॥
भूमिदेशोद्गता वृक्षाः ये चाद्रिशृङ्गसङ्गताः ।
शीर्षे द्वयेऽपि ते साम्याद्वद्धस्पर्द्धा इवावृद्धन् ॥ ६ ॥
उच्चैः शाखाशिखालग्ना इव तारा निशागमे ।
वृक्षाधस्तात्सञ्चरतां कुर्वन्ति कुसुमभ्रमम् ॥ ७ ॥
विचित्रवर्णैः कुसुमैः सम्पन्ना वनराजयः ।
प्रादुष्कुर्वन्त्यकालेऽपि सन्ध्याभ्ररागसम्भ्रमम् ॥ ८ ॥

अन्यच्च—

तादृक्षतीर्थमाहात्म्यवृष्टिप्रतिहता इव ।
दवाग्नयो वनप्लोषा नोत्तिष्ठन्ते कदाचन ॥ ९ ॥
मालतीयूथिकाजातिप्रमुखास्तरुजातयः ।
पुष्पगुच्छैरभुर्नम्रास्तरुण्यः स्वस्तनैर्यथा ॥ १० ॥

प्रफुल्लैः कुसुमैर्वल्ल्यः समीरावेगवेल्लिताः ।
अवाकिरन्ति श्रीसङ्घं गुरुं लाजैरिव स्त्रियः ॥ ११ ॥
मल्लिकाफुल्लकल्हारकेतकाख्याश्च शाखिनः ।
शाखाभङ्गेऽपि मधुरा ददुः पुष्पाणि सार्थिनाम् ॥ १२ ॥

अपि च—

क्वापि जम्बीरदाडिमाम्राणि नारङ्गबदराणि च ।
पाकिमानि विलोक्य स्याल्लोला कस्य न लोलुपा ? ॥ १३ ॥
फलानां कुसुमानां च कालाकालानपेक्षया ।
प्रसूतिः परमा दृष्टा तत्तीर्थातिशयादिव ॥ १४ ॥
खर्जूरीदाडिमीद्राक्षारम्भाभम्भायिकादयः ।
छायां कुर्वन्ति सङ्घस्य खाद्यं च ददते तथा ॥ १५ ॥
विनापि जालदीं वृष्टिं निर्झरौघाः पदे पदे ।
मन्ये तैर्गिरयः सङ्घातिथ्यं कर्तुमुपस्थिताः ॥ १६ ॥

अपि च—

वहज्झरे चूतमहीरुहस्तले विश्रामयन् पान्थजनः पदे पदे ।
फलानि मिष्टानि यथेच्छमाहरन् स्वगेहसाध्यं सुखमश्नुते क्षणम् ॥१७॥

एकतश्च—

उदुम्बरवटप्लक्षाः परोलक्षाः पुरः स्थिताः ।
विश्रामस्थानमार्त्तानां सज्जना इव मानिताः ॥ १८ ॥
श्रीफलाश्च फलैः स्वीयैर्निजपादतलस्थितम् ।
टाच्चक्यभग्नशिरसं त्रासयन्ति खला इव ॥ १९ ॥
अस्पृष्टमध्याः सूरस्य करैः क्वापि प्रसारिभिः ।
बिभ्रते कुलनारीणामाचारं किल कन्दराः ॥ २० ॥

अपि च—

अभयामलकीमुख्यवृक्षाचाषफलैः क्वचित् ।
गान्धिकापणनामापि शङ्के विस्मारितं जनैः ॥ २१ ॥

अपरं च—

पाद्याः कर्करिकाः क्वापि पत्सुखा वालुकाः क्वचित् ।
दृषत्खण्डाश्च तीक्ष्णाग्राः स्वोचितं चलतां व्यधुः ॥ २२ ॥

क्वापि समा विषमा वा क्वापि नीचैस्तथोन्नताः ।
नैकरूपा भुवः शैले दशा इव भवेऽङ्गिनाम् ॥ २३ ॥

क्वापीक्षुशाकटस्तोमः तिल्यं भार्गीणमेकशः ।
कौद्रवीणं च मौद्गीनं शालेयं क्वापि शाल्यते ॥ २४ ॥

तदित्थं स्थाने स्थाने नवीना नवीना वनराजीः परिचिन्वन्तस्तदीयाभिः पिच्छलाभिश्छायाभिस्तपनातपप्रसरागोचरीभवन्तः पर्व्वतीयान् जनानिव तदाचारान् शुचीन् साक्षात्कुर्व्वन्तोऽतिभीष्मग्रीष्मर्तुमपि तथाविधदेशस्वाभाव्याच्छिशिरर्तुमिव मन्वानाः सुखेन विपाशातटिनीं भूयोऽप्युत्तीर्य पदे पदे समृद्धान् महाग्रामान् सम्भावयन्तो दर्शनेन तदधीशांश्चाभिमुखमायातानुचितालापैश्च रञ्जयन्तः क्रमेण पातालगङ्गातटमन्वसार्प्म ।

अपि च—

यस्यां हि जलयन्त्रेषु दृष्ट्वा सक्त्वादिपेषणम् ।
के नाम न प्रशंसन्ति दाक्ष्यं पर्व्वतवासिनाम् ? ॥ १ ॥

पानीयमतिमुक्ताश्मि जानुदघ्नाऽम्बुवाहिता ।
सान्द्रो ध्वनिः प्रवाहस्योन्निद्रयेद्दूरगानपि ॥ २ ॥

तां च तथाभूतामनिहितेष्वपि स्वयोगसन्निहितेषु सुश्लिष्टश्लक्ष्ण-तलेषु निश्चलेषु गण्डशैलेषु परमयतनया क्वापि पादन्यासमुपकल्पयन्तो निरायासमुत्तीर्णाः ।

ततश्च पुनरकुण्ठानि गिरिशिरांसि त्वरितपादचारेण कुण्ठयन्त इव क्वापि तुङ्गतरगिरिशृङ्गमधिरूढा हेमकुम्भमालोपशोभितप्रभूतप्रासादपङ्क्ति-दर्शनीयं विविधस्थानमनोरमं नेत्रानन्दामृतप्रपोपमानं श्रीमन्नगरकोट्टाप-रपर्यायं श्रीसुशर्म्मपुरमहातीर्थं दृग्गोचरीकृतवन्तः ।

ततश्च—

आः किं व्योम्नश्च्युतमिदमहो ! स्वर्गखण्डं प्रचण्डं ?
किं वाप्युद्भिद्य ह्यः क्षितितलमसकौ निर्गतो नागलोकः ? ।
रङ्गद्गाङ्गेयकुम्भावलिकलितमहोद्दामहर्म्यातिरम्यं
दर्शं दर्शं पुरमिति वितर्कास्पदं सम्भवामः ॥ १ ॥

तदनु सङ्घेन प्रथमतीर्थदर्शनप्रभवन्महानन्दानुसारेण दानधर्म्मोद्यु-चितमनुल्लङ्घयता तीर्थभक्तिर्व्यक्तीचक्रे । शनैः शनैरयत्नोपस्थितां कृत्रिमां सजलां नगरस्य परिखामिव पातालगङ्गाज्ञातिजामिव बाणगङ्गाम् "एगं पायं जले किच्चा, एगं पायं थले किच्चा" इत्यादि पदानि यतनाङ्गान्यअ-नुस्मरन्त उल्लाघा उल्लङ्घितवन्तः । तदा च सङ्घागमनमाकर्ण्य चम्पकस्र-क्कलापकलितमौलयो मसृणघुसृणरसाक्तोज्ज्वलाच्छपीनवसनाः,नागवल्लीदल-चर्वणेनेव विमलवचनेन रञ्जितवदनाः, काञ्चनमयशास्निकया वर्ण्यस्वर्णा-लङ्कारेणेव भासुरितकटितटाः, स्वर्णशृङ्गारा निजरूपशृङ्गारितस्वर्णा वा, निरुपाधिप्रीतिगौराः पौरास्ते तेऽभ्यागतवात्सल्यविधित्सया सङ्घस्याभिमु-खीना बभूवुः, इति । ततश्च तान् गुर्जरेभ्योऽप्यधिकितविवेकाँल्लोकान् साधूचितभाषया सम्भावयन्तस्तैरेव सह महत्युत्सवे जायमाने पुरं

प्रवेष्टुमुपक्रान्ताः । चित्रमिव बहुवर्णोपशोभितं धर्मागारमिव बहुगणिकं नगरान्तरं मध्ये कुर्वाणाः, सङ्घसामाचारीविद्भिः पौरैः सङ्घार्थे क्रियमाणं प्रवेशमङ्गलं तत्साहचर्याद्वयमप्यनुभवन्तः, शनैः शनैरपूर्वापूर्वस्थानावलोकनाद्विस्मितविस्मिताः, पताकापीतगगनं हट्टश्रेणिसङ्कुलं राजमार्गमतिक्रम्य शनैर्हर्षितहृपिता इव किञ्चित्त्वरितत्वरिताः प्रेरिता इव परमोत्साहेन, आकृष्टा इव सुकृतलक्ष्म्या, कटाक्षिता इव भाग्यमृगाक्ष्या, आदृता इव सन्मत्या, विधृता इव धृत्या, आहूता इव सद्गत्या, रमिता इव रत्या, विस्मारिता इवारत्या, उपेक्षिता इव बुभुक्षया, अनवलोकिता इवातङ्केन, अचिन्तिता इव चिन्तान्तरेण, विस्मारिता इव मार्गश्रमेण, अस्पृष्टा इव तृषया, अभिगमिता इव परमानन्देन, किमप्यतितरमानन्दतुन्दिला उद्भिद्यमानरोमकन्दला महामदनभेर्यादिवादकेषु शब्दब्रह्माद्वैतमिव वितन्वत्सु सर्वार्थसिद्धिद्वारमिव श्रीशांतिनाथजिनप्रासाद-सिंहद्वारमनुप्राप्ताः—" निस्सही निस्सही नमो जिणाणं " इत्यादि त्रिस्तारस्वरेणोच्चर्च्यमाणा रोमाञ्चकञ्चुकितगात्राः, तृषिता इव सुधासरः, क्षुधिता इव परमान्नम्, निर्द्धना इव रत्नसम्भृतनिधिलाभम्, द्रमका इवैश्वर्यम्, काञ्चनकलशोपशोभितं साधुसीमसिंहकारितप्रासादे परमखरतरश्रीजिनेश्वरसूरिप्रतिष्ठितं श्रीशान्तिजिनपतिं भेटितवन्तः परया भक्त्या। ततश्च त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य कृत्यविदा सह सङ्घेन पुराणाभिनवैरत्नवैर्गृहस्थोचितैः पुष्पैरिव संवत् १४८४ वर्षे ज्येष्ठमासे ज्ञानपञ्चमीदिवसे सम्भावितवन्तः । ततश्च सफलमिव जन्म मन्वाना मार्गप्रयासमपि पूरिताशमिव गणयन्तस्तच्चनिर्विकृत्याद्यभिग्रहग्रन्थिं छुटितमिवावधारयन्तस्तदा तदा च पूज्यान् युष्मादृशान् पुण्यपुरुषानप्यविसारयन्तो द्वितीयस्मिन् विहारे नरेन्द्ररूपचन्द्रकारितं शाश्वतप्रतिमानुकारि जात्यजाम्बूनदमयप्रतिममत्यद्भुतं श्रीवर्द्धमानस्वामिनं तमस्युद्योतमिव तथाविधका-

न्त्यतिशयान्नेत्रामृतप्रवाहमिव परमकर्प्पूराणुनिर्म्मितमिव परमानन्दमयमिव दर्शं दर्शं चिरं चेतसि कारं कारं प्राग्वन्नमस्कृतवन्तो भगवन्तम् । ततोऽपि देवलादिदर्शिताध्वानश्रमत्कृतचेतसो विगलितरेफसः कवलितालस्याः प्रमदातिरेकादुज्जृम्भमाणास्या वाह्याभ्यन्तररजः शिशमयिषयेव नयनेभ्यो हर्षाश्रुधारा वर्षन्तस्तृतीयभवनगान्युगादिजिनपादानन्ववन्दिष्महि पूर्वन्यायेनेति । ततश्च द्वितीयेऽह्नि कङ्गदकमहादुर्गमध्ये माधववक्षोलङ्कारकौस्तुभायमानानादियुगीनश्रीयुगादिजिननिर्नंसयोत्पिञ्जलितहृदयान्तरालाः, प्रभवद्धर्षाश्रुप्रणालाः, क्रमेण नभोङ्गणलम्बिकपिशीर्षमालाविलसत्सप्तशालालीनसप्तप्रतोलीद्वाराणि सप्तमुखानीवाक्रामन्तः, स्वर्णकम्बाकरेण प्राक्कथंचिदावर्जितेन महर्द्धिना मौलभूपालप्रतिशरीरभूतेन हेरम्बाख्यप्रतिहारेण सोपानसहस्रसङ्कुलं राजपथं परिचाय्यमानाः, पदे पदे जायमाने दानोत्सवे नृपकारितमानोत्सवे च प्रकाशमाने राजाङ्गरङ्गद्वाद्यनिनादे उच्छलद्धवलमङ्गलध्वनिभिः प्रतिशब्दमुखरीक्रियमाणेषु सप्तप्राकारेष्विव, नृपतिसौधमध्येषु वीक्षणापन्नकुतूहलिराजलोकैः पाणिन्धमतां नीयमानेषु, पृथुष्वपि पथिषु निरङ्कुशैरपि दौवारिकैश्चानवारिताः, अनवरतप्रणयपरिचितमिव राजसमाजजनसमूहमूहमानाः श्रीनाभेयं प्रीत्या प्रणिपेतिवांसः ।

तदा च—तत्र वृद्धास्तत्तीर्थैतिह्यमित्थमाहुः ।

यथाहि—“ इदं किल कमनीयकनककुम्भोपशोभितोत्तुङ्गशृङ्गरङ्गत्प्रासादमयं महातीर्थं विजयिनि भगवति श्रीनेमिजिनपतौ श्रीसुशर्म्मभूमीभुजा संस्थापितम्, तदिदं चाघटितमटाङ्कितं स्वयं भूतमिवानादियुगीनं श्रीमद्युगादिदेवविम्बमचिन्त्यचिन्तामणिमवृतकल्पपादपममितमाहात्म्यमनन्तातिशयं जानन्तु । इयं च भगवच्चरणारविन्दमकरन्दचञ्चच्चञ्चरीककुटुम्बिनी श्रीमदम्बिका, यस्याः किमप्यसामान्यमतिशयं व्यावर्णयन्ति सन्तः । अस्या हि प्रक्षालाम्भः कुम्भसहस्रप्रमाणमपि जगद्गुरोस्तावत्प्रमा-

णेन स्नात्राम्भसा सह तदाशातनमील्येव तुल्यस्थानस्थितमपि नैकीभवति। प्रत्यक्षं चाधुनापीदम् । अथवाऽसम्भावितकीटिकाप्रवेशनिर्गमे लघुन्यप्यमुष्मिन् गर्भागारे कृतकपाटसम्पुटे भूयोऽपि स्नात्रतोयं सद्युदुरन्तदुरितमिव क्षणादकस्मादूर्ध्वशोषं शुष्यति । इह हि कृतं स्तोत्रादिपूजाद्यं सत्कृत्यं सत्क्षेत्रे निहितं बीजमिवैकान्तेनाविसंवादि फलं स्यादित्यागमः।" तदिदमुत्कण्ठितस्याऽऽह्वानं घटितसुवर्णे वर्णिकाधानमित्याभाव्य स्ववाग्वल्लेः प्रकामफलभूतामिमां स्तुतिमित्थमाविरचीमवाम ।

तद्यथा—

जगज्जीवनं पावनं यस्य वाक्यं महोक्षध्वजं चञ्चगाङ्गेयकायम् ।
तिरस्कृत्य कर्म्मस्थितं जन्तुतातं श्रये तं मतिश्रीकृते तीर्थराजम् ॥१॥

गलन्त्याशु पापान्यनन्तानि तानि प्रसर्प्पन्त्यगण्या मुदश्चावदाताः ।
महासिद्धिरायाति कीर्त्तिश्चकास्ति प्रभो त्वां नमस्कुर्वतां शान्तमूर्त्तिम् ॥२॥

छेकः कष्टोच्छेदने दीप्तिभानुर्भक्तस्यातुच्छेष्टदो भीतिभेदी ।
युक्त्या युक्तः स्वागमागाधवाक्यः सिद्ध्यै रोद्धा युग्मिधर्म्मं क्षतागाः ॥३॥

दिष्ट्या दृष्टे तेऽम्बुजोज्जिष्णुवक्त्रे दूरं नष्टाऽऽदिप्रभो क्लेशराजिः ।
नन्वारूढे भास्करे पर्वतं तं ध्वान्तं किं न क्षीयते निष्कलापम् ? ॥ ४ ॥

रयापारसंसारनीहारसूरं रजोभारसंहारणासारनीरम् ।
कृपालुं रसालं महाधीवरं सत् प्रभावं महामो ऽञ्जसाऽधीश्वरं तम् ॥५॥

(नायकमणिः ।)

तरन्ति सन्तो विपदर्णवं ते पोतायितं येऽनुसरन्ति तेऽङ्घ्रः ।
नतं पदाब्जं भुवि सावधाना यस्मान् मनुष्येष्वथ शर्म्म भावि ॥ ६ ॥

जगत्प्रभुः सत्यनयः स्वयम्भूः स्याद्वादजन्मा निहतान्तरायः ।
तेजोमयस्तात्त्विकयोगगम्यो जीया गतेह ! त्वमघाद्रिवायो ! ॥ ७ ॥

गीर्वाणपङ्क्त्याप्यतिशायिनी सा तावच्च गीयेत मरुद्भवीशा ।
बुधैर्न यावद्बहुधांह्रिभक्तेः शक्तिः प्रबुद्धा जिन तेऽस्तबाधा ॥ ८ ॥
जन्मभूषितनिजायतवंशं देशनाजनितभव्यशिवायम् ।
साधितेष्टसुखसङ्गमरङ्गं भद्रसान्द्रमभिनौमि सदङ्गम् ॥ ९ ॥
राकाशशाङ्काननमादिदेवं वन्दे युगादौ जगदुद्धरन्तम् ।
तं रङ्गदुत्तुङ्गयशःसुरंहं हरन्तमं लोकभवोरुकारम् ॥ १० ॥
नय प्रभो ! सेवकमात्मसङ्गं जय प्रभावोद्दलितान्पङ्क ! ।
नमन्महाराजकृतोरुभागधेय ! प्रयच्छाऽविकलं चरित्रम् ॥ ११ ॥
वरं गृहं हाववती च नारी वर्ण्या च लक्ष्मीर्भवतोऽनुभावात् ।
वरेण्यलावण्यवचास्ततोऽहं वहे तवाज्ञां भव मे शिवाय ॥ १२ ॥
दर्शनं दुरितरोधि तावकं नाभिनन्दन ! भवेद्भवावधि ।
मज्जतान्मम मनोहिमरश्मिस्त्वद्गुणामलमहाम्बुनिधौ हि ॥ १३ ॥
महामोहमाद्यत्तमस्तोमभानोरखण्डोत्तमज्ञानसङ्केतवास्तो ! ।
त्रसस्थावरप्राणिमोहान्तकस्य स्तवासूत्रणात्ते जनः स्यादनंहाः ॥ १४ ॥
रवीन्दुप्रदीपप्रभूतप्रभाभ्योऽधिकं विस्फुरद्दर्शनं तेऽघजातम् ।
दयार्द्रां स्वदृष्टिं त्वमातिष्ठिपश्चेत् सुधाम्भो मदङ्गे न चित्ते विभाति॥१५॥
षडंह्रिवत्खेलतु पादपङ्कजे तवाऽऽरुषं मे हृदयं सभन्द ! ।
कृताश्रयार्थे हि कृतिप्रकाण्डा यत्रासकृत् स्वर्द्रुमतां वदन्ति ॥ १६ ॥
दलन्तं दरं भन्दमाकंदराघं दयाकन्दलीकन्दमानन्दसारम् ।
नतस्त्वां शुभंयुः कुकर्माण्यधस्तात् प्रकर्चास्मि कहींश नम्रामर! श्राक्॥१७॥
धराधीशधीरं महोदध्यगाधं निरस्तक्रुधं प्रावृषेण्याब्दनादम् ।
लसन्मुक्तिलक्ष्मीवरं मुक्तमोहं महामोऽमलज्ञानमानन्दतोऽमुम् ॥ १८ ॥
रोचीर्वीचीप्रोल्लसद्देहदेशे सौम्याकारोत्प्रेक्षितान्तःप्रमोदे ।
शेषस्फूर्ज्जद्योगलम्भप्रविष्टे दृष्टेऽधीशे जायतामिष्टलाभः ॥ १९ ॥

व्योम्नो मानं वेत्ति यो ऽजःभकारै-
र्बुध्द्या काव्यो ऽप्येषु ते तीर्थराज ! ।
नो सो ऽपीशो यद्गुणान् जल्पितुं हीं
तत्को मानो मे ऽत्र मूर्खत्वभाजः ॥ २० ॥

यदाहुश्चिदानन्दसन्तानरूपं शिवानां मयन्नं परब्रह्मयाताम् ।
दयालो ! तदेव त्वदीयं प्रपद्ये शरण्यं पदद्वन्द्वमाविष्कृतायम् ॥ २१ ॥

जयति जगतामर्चिच्छेदी युगादिजिनः परं
तदनु विजयन्ते योगीशा बुधा जयसागराः ।
वदधिमाहिमस्तोत्रं हारं तदन्तिषदः कृतिं
दधदलमुरोदेशे भव्यो जनो जयतादयम् ॥ २२ ॥

जन्मजीवितगिरां सफलत्वं मङ्गलं च वृषभेश ! ममाद्य ।
यत्नतो ऽसमसमांसनितान्तं यन्महावृषगते ऽधिगतो ऽसि ॥ २३ ॥

इति हि नगरकोट्टालङ्कृतेरादिनेतुः
स्तवनमजनि पूर्णं हारबन्धाभिधानम् ।
अहह ! सुकृतयोगः को ऽपि मे स्फातिमागा-
दिति वदति यथावत्प्राञ्जलिर्मेघराजः ॥ २४ ॥

तदित्थं यावता प्रस्तुतस्तवनादिविधानेन कृतकृत्या इव जाताः । इतश्च श्री चन्द्रोज्ज्वलसोमवंशविशदमुक्ताफलायमानावतारेण षट्त्रिंशद्राजकुलीशृङ्गारसारेण चपलोच्छृङ्खलभूपाललक्ष्मीकरेणुकाचापलसंयमनानिस्समानालानस्तम्भभूतोदण्डदोर्दण्डेन विषमविविधविकटसंपादलक्षपर्व्वतमालावलग्निदुर्गाक्षोदिष्ठविपक्षक्षोणीनाथशिरोनिवेशितनिजाज्ञास्फारप्राग्भारेण प्रबलातुलशक्तिनृपतिमतल्लिकाविनयवेलच्छिरःकमलपुपूजयिषितचारुचरणेन्दीवरेण धनसमृद्ध्युपहसितधनदेन सौराज्यजनितजनानन्देन सर्व्वपद्दर्शनविश्रामच्छायापादपेन विशिष्य श्वेताम्बरभिक्षुवलक्षपक्षपातो-

पलक्षितचिच्चक्षुषा पितृपर्य्यायागतस्वसौधमध्यस्थितश्रीयुगादिजिनभक्तिपुषा निजमुखकोमललावण्यापहसितचन्द्रेण भूभुग्नरेन्द्रचन्द्रेणात्मीयप्रधानपुरुषैः सबहुमानमाहूताः सङ्गसङ्गतास्ततश्चातुवर्ण्यजनमहत्तरैः परितोऽलङ्कृतं विचित्रमपि सचित्रमतुलमपि सतुलं विशालमपि सुविस्तीर्णशालं निजशोभापराभूतपुरहूतास्थानं तदीयसभास्थानं प्राप्ताः। ततश्च वीज्यमानवरचामरं स्वरूपान्तरावस्थितं चामरमिव वरेण्यहिरण्यमणिमयसर्वाङ्गीणाभरणशृङ्गारसौन्दर्योपहसितमारं सकलकलाकुशलं ग्रहगणमध्यवर्त्तिनं निशावल्लभमिव राजसभावस्थितं पुरुषोत्तममिव तमद्राक्ष्मोऽक्षाममुदः। अथेपन्नग्राशिरसं तमधिकृत्य निर्ग्रन्थभाण्डागारसर्वस्वभूताशीर्वादसन्दर्भगर्भमुद्धाहवः पद्यमिदं स्मोदाहरामः।

तद्यथा—

श्लाघे जन्म कुले तनौ सुभगता हृद्या कला सद्वधूः
सन्तानर्द्धिसमृद्धिसौख्यमतुलं भोज्यं च राज्यं परम्।
चक्रित्वं त्रिदशाधिपत्यमपि ही प्राप्नोति जन्तुर्यतः
सोऽभीष्टार्थविशुद्धसिद्धिजनकः श्रीधर्मलाभोऽस्तुवः॥ १॥

अपि च—

कङ्गदककोट्टकन्दरमध्यासीनो रिपुद्विपान्हत्वा।
श्रीमान्नरेन्द्रचन्द्रक्षितिपतिहरिणाधिपो जयति॥ २॥

अथ च जलार्थं कस्मिन्नपि जने कृतभ्रूसञ्ज्ञमाभाव्य नृपतिं प्रस्तुतमिदं स्माचक्ष्महे।

वक्त्राम्भोजे सरस्वत्यधिवसतितरां शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः कथमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् किमिव नरपतेऽम्बुपानाभिलाषः॥३॥

अपरं च—

नद्यो नीचरता दुरापपयसः कूपाः पयोराशयः
क्षाराः क्षुद्रबकोटसङ्कटतटोद्देशास्तटाका अपि ।
भ्रान्त्वा भूतलमाकलय्य सकलानम्भोनिवेशानिह
त्वां भो मानस ! संस्मरन्नुपगतो हंसोऽयमानन्त्यताम् ॥ ४ ॥

पुनर्विवेकमुज्जीवयितुमियमन्योक्तिः—
रे चूत ! नूतन मदं मलिनानुकूल ! त्वां वर्णयन्तु कवयो न वयं वयस्य ।
शुक्लच्छदो यदिह शैवलभुग् मरालो रोलम्बकोकिलकुलं कुसुमैर्द्विनोपि॥५॥

तथा—

अये वापीहंसा निजवसतिसङ्कोचपिशुनं
कुरुध्वं मा चेतो वियति चलितान्वीक्ष्य विहगान् ।
अमी सारङ्गास्ते भुवनमहनीयव्रतभृतो
निरीहाणां येषां तृणमिव भवन्त्यम्बुनिधयः ॥ ६ ॥

इत्यादिभिर्नवपुराणैः सूक्तैर्नृपमनोऽनुजीवितं यावत्तावता तत्तल्लक्षणसाहित्यादिरसपरिमलितमतिर्नृपतिरमोघगङ्गाप्रवाहानुकारिण्या तत्तदूहप्रत्यूहाम्बुसारिण्या प्रवीणोचितवाण्या पश्यत्सु पार्षदेषु साशङ्कमिव तिष्ठत्सु राजकीयेषु विद्वत्सु सहास्माभिः स्वयमेव क्षणं गोष्ठीसुखमन्वभूत् ।

तदानीं च—

स कोऽपि न सदो मध्ये मूर्खो वा यदि पण्डितः ।
बालो वृद्धः पुमान् स्त्री वा यो नाश्चर्यरसं पपौ ॥ ७ ॥

अथ विद्याविनोदप्रियेण राज्ञा सञ्ज्ञापिताः सभासदो विद्वांसो ब्राह्मणा केऽपि केऽपि राजन्याश्च सम्भूय यत्तत्फल्गुवल्गितप्रायं सम्यग्रूपं

वा प्रष्टुं सहसोपस्थिताः । ततश्च तान् प्रश्नानुरूपोत्तराधानेन च्युतमदनिभानिव निरभिमानान्मनागापाद्याऽन्तराले चेदमवदाम—

के दारपोषणरताः ? कं बलवन्तं न बाधते शीतम् ? ।
कं संजघान विष्णुः ? का शीतलवाहिनी गङ्गा ? ॥ ८ ॥

जीवन्ति जन्तवः केन ? धातूनां सम्भवः कुतः ? ।
बुधानां वर्ण्यते काचित् ययोक्तमपि नोह्यते ॥ ९ ॥

विकल्पार्थापकः कोऽर्थो विनाशः शङ्क्यते कुतः ।
पद्मोत्पत्तिः कुतः कीदृग् दुस्थः सर्वत्र वारितः ॥ १० ॥

(इति प्रश्नोत्तराणि ।)

कृपणोऽपि नृपार्थ्यः स्यादुदारस्यापि लौल्यता ।
भावाभावेन यस्यास्यादाख्यातोऽपि न बुध्यते ॥ ११ ॥

(प्रहेलिका ।)

काचिद्गृहान्तःप्रियविप्रयोगमसासहिः प्राप्य तरुं प्रफुल्लम् ।
ज्वलद्वियोगाग्निरियं व्यहासीच्छायां तदीयामपि किं निदाघे? ॥१२॥

(भावालङ्कारः ।)

इत्यादिपद्यानां प्रत्युत्तरदानमूकान् विदग्धमन्याँस्ताँस्तान् यावदुदनैष्म, तावदेकः काश्मीरदेशीयः कुशाग्रीयमत्यवगाहिततविततप्रमाणग्रन्थस्तार्किकचक्रचूडामणिमन्यश्छलजातिप्रभृत्युल्लापमुखरः कश्चिद्विपश्चित् सहास्माभिः स्वपक्षपरपक्षसाधनदूषणाभ्यां चिरं निश्चितवाग्विवदितुं लग्नो महताऽऽटोपेन । सोऽपि, अचिन्त्यश्रीपूर्वगुरुसान्निध्यसन्नद्धससम्बद्धवाग्मात्रेण प्रतिहतवाग् वीक्षापन्न इव क्षणं क्षोणीशाध्यक्षमेव सितभिक्षूननुनिनीषुपादलग्नपाणिरिदमुच्चैरुच्चचार । यतः—“ भो ! जैनानां पुरःकोऽहं बराकः, क्षमध्वमागः, अथेत्यादिसरसेष्टगोष्ठीप्रकारेण परमप्रीतितन्त्वनुस्यू-

तमना मनुजेश्वरोऽस्मत्सनाथस्य सङ्घस्य सर्वस्यापि वहुमानसारं सत्कारं चकार । 'अहो ! आर्हतो धर्मो विजयते । धन्यमिदं मतान्तराजय्यं श्रीजिनशासनम्, यत्रैवं विद्वत्तादिगुणा निरुपमाना विभान्तीति ।' अनन्तरं च चञ्चचन्द्रकान्तादिविविधवर्णदैवतालङ्कृतं देवागारं स्वकीयं दर्शितवान् । अचकथच्च स्ववर्गीणान्, 'यदस्य सङ्घस्य प्रवेशनिर्गमयोर्न स्खलना कार्या ।' अथ 'प्रत्यासीदति नः सान्ध्यो विधिः' इत्यादिना प्रतिगमनाय प्रत्याय्यमानोऽस्माभिः कथञ्चिदेवं महाप्रणयाविर्भावकमिदमवादीत् ।

मा गा इत्यपमङ्गलं, व्रज इति स्नेहेन हीनं वचः,
तिष्ठेति प्रभुता, यथारुचि कुरुष्वैषाऽप्युदासीनता ।
किं ते साम्प्रतमाचरामि हितमेतत्सोपचारं वचः
स्मर्त्तव्या वयमादरेण भवता भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥ १ ॥

ततस्तमापृच्छ्य श्रीजिनशासनप्रोन्नतिदर्शनोत्सर्प्यत्प्रमोदप्लुतहृदयाः स्वमठमागताः । अथाऽपरेद्युश्चातुर्वर्णवन्द्यमानार्हद्बिम्बभूषितेषु तेषु चतुर्ष्वपि प्रासादेषु महत्युत्सवे श्रीदेवमहापूजावसरे क्रमेण श्रीसङ्घश्रावका गन्धोदकसम्भृतैः स्वर्णकलशैः श्रीजिनचन्द्रपादान् दर्शनदत्तमनःप्रसादान् यथाविध्यसिस्नपन् । तदनु सुलभैः शुभगन्धबन्धुरचम्पकपवित्रशतपत्रप्रफुल्लमालतीजात्यादिजात्यपुष्पैर्बहुभङ्गीभिरपूपुजन् । पेशलफलपक्वान्नाक्षतादिबलिं पुरो जगद्गुरूणामुपाहार्षुः । ततश्च चतुर्विधश्रीधर्मास्थास्थेमोत्पादकेषु चतुर्ष्वपि काञ्चनकुम्भोपलम्भसम्भावितद्रष्टृमनःप्रसादेषु प्रासादेषु गर्भागारादाराभ्यादण्डकलशावलम्बिनो ध्वजान् व्यदीधपन् । तदा च रेणुर्वाद्यानि, जगुः कुलनार्यः, नृत्यन्ति स्म विस्मेरास्या नागर्यः, ददुर्हल्लीसकानि बालाः, ताड्यन्ते तालाः, खेलन्ति खेलास्ते चात्यन्तं सहेलाः, दी-

यते यथेच्छं दानं, यथा दूरेत्यतामञ्चति दुरितविगानं, प्रगुणीभूता सुगतिः, प्रणष्टा कुगतिः, वर्द्धते धृतिः, विशीर्यते कुस्मृतिः, उच्छ्वसन्ति दानिनः, लभन्ते मानं मानिनः, खिद्यन्ते कृपणाः, विकसन्ति वितरणनिपुणाः, जाग्रति योगिनः, विहसन्ति चैत्यनियोगिनः, निजचित्ते चमत्कुर्वन्ति ज्ञानिनः, समाधिमधिश्रयन्ति ध्यानिनः, प्रमीलत्यविद्या, उन्मीलति विद्या, विलसति पुण्यम्, वर्द्धते श्रेयः ।

किं च—

तन्मन्ये येन दृष्टोऽयं श्रुतः स्नात्रोत्सवोऽथवा ।
यदि तस्य मुदे न स्यादत्र प्रतिभुवो वयम् ॥ १ ॥

तदनु च भट्टचट्टनटबटुकवाडवादिदुःस्थितसुस्थितजनसाधारणानि शालिसर्प्पिस्साराणि सङ्घकारितानि अवारितानि भोजनानि सर्व्वत्र प्रावृतन्;यानि रहःस्थितमप्यवदान्यं प्रकाशयन्ति । अथाष्टमीदिने **श्रीशान्तिजिनविधिचैत्ये** जयजयशब्दमुखरेषु वन्दिवृन्देषु महोद्दण्डे भवत्युत्सवे **मेघराजगणि –सत्यरुचिगणि–मतिशीलगणि–हेमकुञ्जरमुनि–कुलकेसरिमुनीनां पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कन्धाद्यनुज्ञाहेतुकां** नन्दीं मिलितेषु नागरेष्विव सङ्घजनेषु व्यधासिष्म । तत्र चाश्रान्तं स्थाने स्थाने देववन्दनावहिताः कार्यान्तरपराङ्मुखा ग्रामं ग्रामं भावपूजया जगदीशान् त्वरया श्रद्धया सम्भावयन्तः, सङ्घश्राद्धविधीयमानां द्रव्यपूजां चानुमोदयन्तः, सह जन्मना निजजीवितमपि कृतार्थं गणयन्तः, यावद्वारानष्टोत्तरं शतमपि चैत्यपरिपाटीं पञ्चशक्रस्तवाविर्भावसारां सपरिवारा वितेनिवांसः। इत्थं श्रेयःकृत्येन पुण्यलभ्येन स्वात्मानमिव तदनुमोदकं परमपि संसारभवाम्भोधिपारवर्त्तिनमिवानुमिनुमः । सपरिवारश्रीमदाराध्यध्येयपादप्रत्ययमपि विशिष्य श्रीजिनवन्दनं तत्रान्यत्रापि नामग्रहणपुरस्सरं विहितमस्तीति ज्ञपरिज्ञयाऽनुमोद्य तन्नम-

स्यकैरिव स्थानस्थैरपि प्राज्यं पुण्यं विटपनीयमिति। अन्यच्च यथा योगं गोचरचर्यादिस्वार्थसिद्धये पुरान्तराले चङ्क्रम्यमाणाः क्वचिदुपधारायन्त्रं मठस्थस्य महापुरुषप्रमाणानुकारिणः कान्तजात्यजातरूपनिष्पन्नस्य रेखाप्राप्तरूपस्य राज्ञो रूपचन्द्रस्य रूपेक्षणं चक्षुर्विश्राममुखमुपलभमानाः, क्वचिच्च प्रत्यासन्नहिमाचलशैलराजकूटाहृतानि भीष्मग्रीष्मर्त्तावपि हिमानीखण्डानि पुण्यपुरुषयशांसीवात्यन्तं विमलान्युन्नयमानाः, अधिविपणिमार्गं च व्यापार्यमाणचारुचम्पकशतपत्रादिगन्धद्रव्यपरिमलबाहुल्येऽपि नाशाविषयं रसमनाददानाः, सततप्रवृत्तोत्सवानां गीतनृत्यनादरसलालसानां दिवश्च्युतानां देवीनामिवानुपमतमतनुसौन्दर्याणां पौरपुरंध्रीणां श्रोत्रमधिगतैर्मधुरध्वनिभी रागमगच्छन्तः, गृहोद्यानवर्त्तमानाम्रतरुपरिपाकिमफलेषु मुग्धलोकोपनीतेष्वपि जीह्वालौल्यलेशमप्यस्पृशन्तः, विचित्रभूर्जपत्रवन्मृदुलस्पर्शान् कम्बलान्करस्पर्शमात्रतायामुपढौकयन्तः, यावद्दशदिनीं तत्रावतस्थानाः। ततश्च 'तिष्ठथ चतुर्मासीम्, वयमपि शुद्धश्रावकीभवामः, महांश्च लाभो वः, कुरुध्वमनुग्रहमस्मासु' इत्यत्यन्ताग्रहपरान् नामश्रावकान् तत्रत्यान् जीदो-वीरो-हर्षो-चंभो-संभो-गंभो-प्रमुखान् कथमपि सम्बोधयामासिवांसः। ततः सर्वेष्वपि विहारेषु जिनेन्द्रपादानधिकृत्य सपरिवाराः ससङ्घाः सगद्गदस्वरा बाष्पप्लुतेक्षणाः प्रास्थानिकीं चैत्यवन्दनां सुचिरमारचय्य ललाटघटिताञ्जलयः सत्यैकान्तशान्तरसवशीकृतस्वान्तास्तदानीम्—

तव दर्शनमेवास्तु किमन्यैः प्रार्थनाशतैः।
सरागचेतसोऽप्युधैर्लभन्ते निर्वृतिं यतः॥ १॥
वारं वारमियं चिन्ता वारं वारमियं कथा।
यदहं त्वां प्रपश्यामि भूयो दर्शनमस्तु वे॥ २॥

तदित्यमप्रजगज्जायमनभ्यर्थनामिमां प्रथयित्वा, असकृच्च शिरःप-

णामं कारं कारं कथञ्चित्तीर्थमहामोहप्रतिबन्धवशात्स्खलितपादप्रचारं क्षणं शून्या इव हृतहृदया इव ततः प्रस्थातुमुदयच्छाम ।

अथ च—

ज्वालामुख्या जयन्त्या च श्रीमदम्बिकया तथा ।
वीरेण लङ्कडाख्येन यदसेवि सदैव हि ॥ १ ॥
संसारसागरोत्तारतीर्थात्तीर्थोत्तमात्ततः ।
श्रीमन्नगरकोटाख्यात्प्रस्थिताः सह सार्थिकैः ॥ २ ॥

(युग्मम् ।)

अथ गिरिसारिदुपलशैलेलातले वहन्तः, एकतः किल ' पव्वउ-खोट्टउ ' इति मृदुलघुशिशूनिव किञ्चिद्व्यक्तवाचा संशब्दनेन गिरिभूवि पथिकेभ्यो ह्यविश्वासशिक्षामाख्यान्त इव कांश्चन पक्षिणः पदे पदे प्रदक्षिणीबभूवांसः । अन्यतः पुनस्तत्प्रतिपिपेधयिषयेव कांश्चन विपश्चित इव ' होकोकिमइ, होकोकिमइ ' इति स्फुटप्रतिरावेण जगद्वैचित्र्यं प्रचिकटयिषून् विहगान् स्वात्मनि माध्यस्थ्याद्वैतमुत्तेजयन्तः शुश्रुवांसः । विस्मयस्मेरिताऽऽनन्दाटोपा गोपाचलपुरतीर्थं जग्मिवांसः । सं० घिरिराजकारितोत्तुङ्गप्रासादस्थं श्रीशान्तिनाथं सगौरवं च प्रणेमिवांसः । अत्र च देवसेवापराः सङ्घकृत्यानुमोदनासमाहितहृदः सदसद्विवेकं प्रतिवास्तव्यास्तिकांश्च कांश्चन प्रवीणयन्तः, पञ्चाहोरात्राणि तस्थिवांसः । अथ पारेविपाशस्थितं श्रीवीरस्वामिपादमहाप्रासादकलितं श्रीनन्दवनपुरं प्रापिवांसः । तत्र च पूज्यपूजां विधिवद्विधाय सह तत्रत्यसङ्घेनाऽऽगन्तुकसङ्घोऽपि खल्वात्मानं धन्यममन्यत । तत्र च सुविहितगुणपक्षपातरसिकमनोभिरात्मकरणीयातिनन्दिभिः शुद्धमार्गाभिनन्दिभिः सौजन्यसम्भिन्नसर्वभावैः पार्वतिकभूपाललोकपालितवचोभिः सह स्वयूथ्यैरनुमितसंविग्नपाक्षिकपदस्थैर्भृशमजर्यमासोसूत्र्यामहिरूपम् । ततोऽपि प्रस्थाया-

तिनिविडतमसि निश्यपि पुरोवहमानाभिर्द्योतमानखद्योतरिंच्छोलीभिरन्तरान्तरा त्रुटयद्भिरिव समुज्जृम्भितचक्षुरायुष्याः कोटिल्लग्रामे क्रमेणाभिनवोत्तुङ्गशृङ्गरङ्गत्प्रासादे श्रीवामेयजिनेन्द्र–दर्शनेन सफलप्रयासा बभूवांसः । सङ्घो यावता पूजादिककर्म्मणि प्रवृत्तोऽथ तावता वयं तमिति स्तोतुं प्रवृत्ताः ।

तथा च—

अभिमतफललाभकरं चिन्तामणिपार्श्वनाथतीर्थंकरम् ।
यरलवशषसहवर्णैः किञ्चिदहं वर्णयिष्यामि ॥ १ ॥

श्रीवल्लिराशिसुरसालरसालवाल !
श्वःश्रेयसाय स विहासरसोऽसहायः ।
अंहो विहाय सहसैव विशालबाहुः
श्रेयःश्रियं सह नृपैरिह शिश्रिये यः ॥ २ ॥

यो विश्वसंशयविलेशयवैशशरीरो
यः संवरारिसवलाहववारवीरः ।
यो हर्षवासररविर्विषयारिरंसु–
र्योवेह संवरसरोवरशालिहंसः ॥ ३ ॥

शेषाहिवाबहिशरा बहुहावहेला–
लीलाविलासविवशासु वशास्त्ववश्यः ।
सेव्योऽसि वासवविशां सविशेषवीर्य–
शौर्याश्रयोस्यविरलं सरलाशयोऽसि ॥ ४ ॥

अर्हन् यशःसलिलराशिशशी रसायाः
सार्वः शिवालयविलासरसाय सोऽयम् ।
सर्व्वे सुरासुरसुरेश्वरसूरिसिंहाः
संसारवासविरहाय सिषेविरे यम् ॥ ५ ॥

य: स्वैरिवैरिविलयाय सहः सहस्वी
स्वीयस्ववंशबहुलाम्बरशर्व्वरीशः ।
शश्वलल्लौ वशविहाररसीह शीलं
श्रेयोरहस्यसरसीरुहसूर एषः ॥ ६ ॥

(चतुर्थमिदं ।)

ये पञ्चवर्गपरिहारसमेतमेतत्
पञ्चाक्षनिग्रहपराः स्तवनं पठन्ति ।
ते ही चतुर्थपुरुपार्थसुखं लभन्ते
तद्बोधिलाभसुभगास्तु ममापि वुद्धिः ॥ ७ ॥

इति भगवन्तमभिष्टुत्य कृतकृत्येन सहैव सङ्घेनानघीभवन्तो ऽथ गिरिगह्वरकूटसङ्कटान् मार्गान् दुर्गमानुलङ्घयन्तः, क्वापि पर्व्वतप्रदेशोद्भूताभिः सप्रत्ययाभिस्तमः कवलयन्तीभिर्ज्वलन्तीभिरौषधिभिरतिभास्वरप्रदीपकलिकासाध्यं कर्म्म प्रत्यक्षयन्तः, पर्वतघट्टानतिक्रम्य पर्वतदेशमध्यगं नानाविधश्राद्धसङ्कुलं श्रीकोठीपुराभिधमहानगरं प्रापिम। तत्र च देवार्यदेवपादा विधिवदभिवन्दिताः । तत्र च सं० सोमाकोऽवारितवाहनासारं सरसशर्कराचूर्णपूर्णं भोक्तृमनोमोदकं महामोदकं प्रचुरघृतपूरपक्वान्नसम्पन्नशाकप्रीणितरसिकलोकमिन्द्ररसास्वादमाद्यद्रसज्ञरसनाविषयं स्तूपीभवदपूपं सुनिष्पन्नरूपं मुग्धस्निग्धदध्योदनजनितजनसमाधानं सुगन्धिशालिपरिमलोद्गारमात्राप्यायमानजनं प्रसर्पत्सर्पिर्द्धाराप्रवाहप्रवाहिताहितदौर्मनस्यं नानास्वाद्यपेयलेह्यखाद्यहृद्यं प्रकाश्यमानवहुविनयप्रकारं श्रीसाधर्मिकवात्सल्योपचारं सारं कारं कारं तथा समस्तवास्तव्यवस्तुवित्तसार्थिकसङ्घपुरुषेषु सम्पन्नचित्तरङ्गः सुरङ्गश्वङ्गवसनदानेन मनागस्खलितचित्तस्ताम्बूलादिना च सचमत्कारं सत्कारं चकार तथा, यथा सार्वत्रिकीं प्रशंसामाससाद; इत्यलं बहूक्त्या ! । तदेवं देववन्दनसावधानास्तत्रापि दिन-

दशकं स्थितिमजीघटाम। अथ ततः प्रचल्यातिदुरन्तमहामार्गसागरमतिक्रमयन्तः क्रमेण सप्तरुद्राख्यमहाप्रवाहमयं जलनिवेशमक्लेशेनैव क्रोशचत्वारिंशत्प्रमाणं तरीभिरतिवाहयन्तो यथाक्रमं चङ्क्रम्यमाणाः श्रीदेवपालपुरपत्तनं प्राविशाम। तत्रत्य मृदुपक्षीय-सं० घटसिंहादि-खरतरपक्षीय-सा० सारङ्गादि-विविधशुद्धश्रद्धश्राद्धसङ्घेन घुमघुमायमान घनतूर्यम्, गुमगुमायमानगन्धर्वम्, त्रटत्रटायमानकाहलम्, दमदमायमानदर्मलम्, ढमढमायमानढोल्लम्, प्रौढीभवज्जयजयरवं प्रवेशोत्सवमन्वबोभूयामहि च। तत्रापि कोठीपुरवत्तानि तानि साधर्मिकवात्सल्यसङ्घपूजादीनि सङ्घपत्युचितानि निखिलान्यपि करणीयानि सङ्घपतिमहाधरादिभिस्तथा चक्राणानि यथा श्रीजिनशासनस्य सङ्घस्य साधूनां श्रावकाणां च प्रशंसोल्लापः स्वपरपक्षीयेषु प्रोल्ललास। तदेवं श्रीजिनशासनं भासयन् सङ्घस्तत्र दशादिनीं स्थितिमकरोत्। ततश्च तत्रत्यसङ्घलोकाग्रहेण तथाविधां तत्र योग्यतां मत्वा मेघराजगणिः सत्यरुचिगणि-कुलकेसरिमुनि-रत्नचन्द्रक्षुल्लकैः सहितश्चतुर्मासीं स्थापितः। स च यावत्साम्प्रतं तत्रत्य सङ्घेन सम्प्रहेठितो(?)ऽस्मदुपकण्ठं विजयी समायासीदीति।

अथातो वयं सह सहागतेन तेनैव सङ्घेन सहसा प्रचेलिवांसः। क्रमेण श्रीमद्देवगुरुप्रसादसान्निध्यबोहित्थेनातिदुरुत्तरमहत्तरसरणिसागरं सुखसुखेनाकुतोभयाः समुल्लङ्घयन्तः, पदे पदे गमनावसरपरिचितानि निवासस्थानानि निश्चिन्वन्तः, अविच्छिन्नैः प्रयाणैर्विपाशाकूलङ्कषां पश्चान्मुञ्चन्तः, प्राक्प्रस्थानमङ्गलवेलापरिचितं पुरोपवनं प्रापाः। इतश्च श्रीसङ्घागमनकिंवदन्तीपानोल्लसदाल्हादमेदुरः समस्तालस्यच्छिदुरः प्रस्तावोचितक्रियाविदुरः श्रीफरीदपुरीयः सङ्घस्तत्कालमिलितान्यग्रामसङ्घश्च, किं बहुना? सर्वोऽपि ग्रामश्च तीर्थयात्रापुण्यपवित्रिताङ्गसङ्घदिदृक्षयाऽतितृषितलोचनः सम्मुखीनोऽत्यौत्सुक्यभावादागात्। ततश्च तमुचिताशीर्वादेन

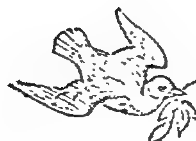
सह प्रमोदेन योजयन्तः सङ्घपतिसोदराभ्यां सा० पासदत्त सा० हेमाभ्यामतिप्रीतिपराभ्यां पूगीफलनालिकेरादिबहुलताम्बूलादिदानेन सत्क्रियमाणसर्वजने, वाञ्छितदानेनायाचकीक्रियमाणे याचकलोके, जायमाने प्रवेशोत्सवे फरीदपुरमवापाम । यावत्सर्वोऽपि सङ्घोऽनिर्वाच्यपरमाह्लादसुधाम्भोधौ मग्न इवाभूत् । तद्दर्शं च वयमपि सिद्धिसमीहितत्वान्निरुपमसमाधिभाजोऽजनिष्महि ।

अपि च—

मनसि कृत्य जिनेश्वरवन्दनं प्रचलिता यत एव वयं मुदा ।
अभिनिनंसिततीर्थनमस्यया सुफलिताभिमतास्तत आगताः ॥ १ ॥

सिद्ध्यन्तीदृशि कार्याणि प्रायेणोद्यमयोगतः ।
स चाप्यपेक्षते पुण्यं तच्च सङ्घे प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥

इति श्री विज्ञप्तित्रिवेण्यां तीर्थयात्रार्थसमर्थिका
गङ्गातरङ्गाख्या द्वितीया वेणिः ॥



॥ अथ तृतीया वेणिः प्रारभ्यते ॥

अथ सङ्घागमनानन्तरं नितान्तमुदितचित्तौ सङ्घपतिभ्रातरौ साधुपार्श्वदत्त-हेमाभिधसुश्राद्धौ ज्येष्ठे भ्रातरि सौभ्रात्रवल्लरीं पल्लवयन्तौ स्वं धन्यं मन्यमानौ निस्समानमानसोत्साहौ तत्तत्प्रभूतसाधर्मिकादिसत्क्षेत्रेषु विविधाशनादिप्रकारेण न्यायार्जितवित्तबीजवापं तथाऽकार्ष्टां यथा कल्पान्तकालकीर्त्तनीयकीर्तिमतां मतिमतां सत्त्ववतां सत्पुरुषाणां द्वितीयतां धुरीणतां वा किलाश्चतुः । तत्किं बहुच्यते ? यतः—य एव केचन यात्रारम्भे मनागवज्ञामनाटयन्, त एवाथ सर्वाध्यक्षं स्वात्मानं निन्दन्तः सुनिष्पन्नसङ्घकर्म्माणि श्रावं श्रावं प्रमोदाश्रूणि चातिविस्मयात्स्रावं स्रावं भट्टा इवैकान्तसङ्घकार्यभङ्गिमुखरितमुखाः साक्षादीक्षिताः। तदहो ! खलु लोको जितद्वितीयः कामितकामुकोवाऽस्तीति विदांकुर्व्वन्तु श्रीपूज्या लौकिकाचारम्। किं च—सामान्येनाऽप्यनेन सङ्घेन सङ्घद्वयमीलनादतिस्फारिभूतेन तेषु तेषु स्थानेषु सघान्तरेभ्योऽसामान्यैः करणीयैः सर्वथाप्यतिरिच्यत । तच्च सर्वमागन्तुका एव न्यक्षेण वक्ष्यन्तीत्यलम् । अथ यावद्दिनानि कानिचित्तत्रावस्थानमभूत्तावता श्रीमल्लिकवाहणीयः श्रीमम्मणवाहणीयश्च समुदायस्तत्र मन्दक आकारकश्च तुल्यकालं समुपागात् । ततश्च स्वस्वास्पदमस्मान् विहारयितुं भृशमाग्रहीष्टाम् । वास्तव्योऽपि तथैवावस्थापयितुं निर्बन्धपरायण आसीत्। ततोऽस्माभिर्वास्तव्यो यावद्रहस्याक्षरमन्त्रेण सम्बोधितोऽस्याग्रहाद्विरराम, आमेत्याह च । तद्द्वयं तु तथैवान्योऽन्यं विवदमानं शकुनान्वेषणव्यपदेशेन समाधाय तत्प्रथमं मम्मणवाहनं प्रति प्रस्थिताः । सायं च दक्षिणेन गोमायवोऽरटन्। ततो मम्मणवाहनगमनमुपेक्ष्य सह तत्सङ्घेन तदैव श्रीमल्लिकवाहनं प्राप्ताः । तदा च साधु द०मालाकेन प्रवेशोत्सवरङ्गः परिमितप्रसारोऽपि निखिलजनशोभासम्भारसम्पादको व्यधायि येन सर्वजनो मनसि चमत्करोत्, इति

अथ श्रीतीर्थयात्रामहापुण्यपीयूषकुण्डारचितसवना इव सुतरां सुस्थिरस्वास्थ्यभाजः सपरिच्छदाः ससङ्घाः सुपरिणामाः पुरा यावद्वर्त्तामहे । इतः प्रतिवर्षप्रतिनियतागमा श्रीपर्युषणाऽपि प्रत्यासीदिति ।

ततश्च—

दानशीलतपोभावरूपो धर्मश्चतुर्विधः ।
भृशं प्राप्तावकाशोऽभूदेष्यति ज्येष्ठपर्व्वणि ॥ १ ॥
अर्थमुक्तोऽपि दातॄणां करो गुरुतरो भवेत् ।
तत्पूर्णोऽपि पुनर्लातुर्लघुरेवेति मे मतिः ॥ २ ॥
दानं दौर्गत्यनाशाय दानं दुरितदारकम् ।
आशाकल्पद्रुमो दानं प्रियं त्रिजगतोऽपि तत् ॥ ३ ॥
दानेन शासनौन्नत्यं यादृशा तादृशेन वा ।
तस्माद्दीक्षाक्षणारम्भे तद्व्यापारि जिनैरपि ॥ ४ ॥
पश्य दानस्य सौभाग्यं वस्तुपालादयो यतः ।
जीवन्त इव मन्यन्ते यदुत्थयशसश्छलात् ॥ ५ ॥
अहो ! दानसमं नास्ति जगत्त्रितयमोहनम् ।
यस्माद्दुष्टोऽपि तुष्टः स्यात्तथा शत्रुः सुहृद्यते ॥ ६ ॥
दान इत्यक्षरद्वन्द्वं विभज्य जगृहे जनैः ।
उदारैरादिमो वर्णः स्पर्द्धयेवापरैः परः ॥ ७ ॥
राजानो दुर्जना मातापितरो गुरुबान्धवाः ।
सिद्ध्यन्ते के न दानेन ? चिरं विमुखिता अपि ॥ ८ ॥

तथा—

कष्टानुष्ठानकर्त्तारो भूयांसः सन्ति पूरुषाः ।
केऽपि ते विरला एव शीलशुभ्राः सदैव ये ॥ ९ ॥
कलिदुर्वातपातेन कथञ्चिद्विधुरा अपि ।

शीलबोहित्यमास्थाय भव्यास्तीर्णा भवार्णवम् ॥ १० ॥
न त्रातारो न दातारो योगिनो न न भोगिनः ।
शीलपालकलोकानामर्घन्त्येकां कलामपि ॥ ११ ॥
अन्तरङ्गद्विपद्व्यूहं गलहस्तकदायकम् ।
तपः सुसाधुभिस्तप्तं निर्जराङ्गमकृत्रिमम् ॥ १२ ॥
विषमाण्यपि कर्माणि दुश्चीर्णानि कथंचन ।
तपस्तपनयोगेन क्षयं यान्त्यन्धकारवत् ॥ १३ ॥
प्रत्यूहव्यूहतो नाम लोको यथेष शङ्कते ।
नादधीत कथं कारं तपस्तद्ध्वंसमांसलम् ॥ १४ ॥
यदगम्यं यद्दुरापं दुःश्रद्धेयं च यद्भुवि ।
तदायासविनाभूता लभन्ते तपसा प्रियम् ॥ १५ ॥
दुष्कर्ममलसंस्पृष्टस्तावदात्मा न शुद्ध्यति ।
तपोऽग्निना स्वर्णमिव न यावज्जातु तप्यते ॥ १६ ॥
यक्षरक्षःफणिव्याघ्रा न तानाक्रमितुं क्षमाः ।
सिद्धमन्त्रोपमे येषां तपस्यास्था सनातनी ॥ १७ ॥

तथा—

नरके नारकाः सन्ति सहन्ते दुःखमेव च ।
न तेषां भावना शुद्धा तस्माल्लाभो न किंचन ॥ १८ ॥
पुण्डरीकादिभिस्तैस्तैः श्रेष्ठैकाहव्रतादपि ।
कर्मग्रन्थिस्त्रोटितो यद्भावना तत्र कारणम् ॥ १९ ॥
सुचिरादविवेकोऽपि कृताज्ञानतपा अपि ।
भावनातो नरः शुद्ध्येत् तामलीवामलाशयः ॥ २० ॥
दानं शीलं तपस्तुण्डमुण्डनादि नुवद्वपि ।
अफलं स्तु दिशासीव यथेका नहि भावना ॥ २१ ॥

अहो ! भावस्य भव्यत्वं विरत्यां विगताग्रहः ।
आर्जिजत्तीर्थकृल्लक्ष्मीं श्रेणिकः पृथिवीमिव ॥ २२ ॥
दानं दुरितनाशाय शीलं सौभाग्यवर्द्धकम् ।
तपः पङ्कविशोषाय भावना भवनाशिनी ॥ २३ ॥

तदमूनमूदृशो दानशीलतपोभावनाभेदान् परिपोषितस्वस्वसामर्थ्यान्नासीरतया परिस्फुरता चतुरङ्गचमूभावेन व्यवस्थाप्य तैरेवाधृष्यविपक्षपक्षक्षोभमुद्भावयन्ननिवारितनिजैश्वर्यकलया सपक्षानावर्जयन्नगणितस्वपरपक्षः सर्वत्र समदृष्टिरुदारचरितः सम्यक्त्वसामायिकश्वेतगजारूढः प्रौढश्रीः पर्वराजः श्रीजिनराजशासनराजधानीमध्युवासः । तदा च—आशिषः स्थानेन वाऽस्माभिः श्रीकल्पवाचनाव्यापारयिषत् श्रीकालिकाचार्यकथाद्वयोपदेशव्यपदेशेन तत्तत्तदुत्पत्त्यादिव्यावर्णनं निर्णयद्भिश्च द्वारभट्टपटिमास्वात्मनि घटयांचक्रे च । सुश्राद्धमहाजनेन तु साङ्गतिकक्रमुकनालिकेरीविविधवर्णवर्णनीयवासःप्रदानसाराभिरेकादशकृत्वः प्रभावनोपदाभिरुपास्थितश्चायं पर्वराजः । किं चात्र साधुमेहाक–सं०जसूश्रावकौ मासक्षपकौ, श्राद्धिका तु द्वादशपक्षक्षपका, अष्टाहिकाकारिण्यस्त्वगारिण्यो गणनातीताः समपत्सत । एतच्च पर्वस्वरूपं पुराऽपि श्रीपूजेभ्यः प्राभृतीकृतमभूत्तथाऽप्यधुना स्थानाशून्यार्थं पुनरपि व्यज्ञपीति न पौनरुक्तमाशङ्क्यम् । अथ सम्प्रति मिलितसर्वमहाजनो महाविस्तारस्फारो वाद्यदातोद्यस्तोमः पौषसितपञ्चम्यां श्रीनन्दिमहःसम्पन्नः, तत्र च श्रावकाश्चत्वारः, श्राविकास्तु चतुर्विंशति, संयताश्चत्रयः, सर्वविरतिवर्जं तत्तच्चपश्चरणप्रमुखानभिग्रहविशेषान् परमयाऽहमहमिकया यथार्हं सर्वेऽप्याददिरे । तदा च ताम्बूलादिदानप्रधाना विश्वाश्चर्यकरी सा काचित्प्रभावना श्रावकैश्चक्राणा, ययापि सर्वः श्राद्धसङ्घो नाम सुतरां साधुवादाद्वैतवादी समवृतत् । अन्यो मुग्धलोकस्तु ताम्बुलादिप्राचुर्यं दृष्ट्वा ह्यसमयेऽपि पर्यु-

पणापर्वश्रमं दधार । तदयं सर्वजनीनो महान् पुण्यलाभः । तथैवैषोच्छ्रीमत्प्रसादितं लेखद्वयं, परिजग्मे च ततोऽवस्थानादिनैयत्यम् । पुनरपि यथावसरं स्वसुखावस्थानादिसमाचारसुधांशुव्यापारणेन प्रह्लादनीयो नश्चित्तसागरः सुगुरुभिः । तथा वयमितः प्रस्थातुकामा अपि कल्याणीभक्तिश्री-समुदायोपरोधाचपोधनावन्दापनोत्सुका अपि स्थिताः । अथाधर्श्रीनश्रीमम्मणवाहनीय-श्रीफरीदपुरीय-सङ्घागमः संभाव्यमानोऽस्ति । तदागतौ यथोग्यताङ्कं भविष्यति तद्विधास्यतेऽवश्यम् । तथाऽत्रत्यो मेघराजगणि-सत्यरुचिगणि-प्रभृतियति-सा०नगराज-सा० हांसा-सा० हापा-श्रे०भोजा-सा०पाह्वा-सा०मण्डलिकगोला-सा० रेला-द०भीमा-सा०आह्ना-सा०देपाल-सा०विधा-सा०जिणिया-सा०देवा-सं०रतन-सं०धुम्मण-सा०सहजा-सा०कान्हड-सा० मूला-सा०वस्तुपालसन्वालवखा-सं०लद्धाप्रमुखो निखिलोऽपि त्रिवर्णः श्रीसङ्घः श्रीमत्पादपयोजन्मसु चिराचञ्चरीकेलिं कलयतितमाम् ।

तथा—

गाम्भीर्यालव्यमध्यो धृतसगुणमणिर्धारितासानुमद्भिः
सन्नद्धो मध्यमेघोज्ज्वलतरसलिलोल्लोलमालोत्सहिष्णुः ।
माद्यद्विद्यानदीनां घनरसरसितः श्रीधरोपासनीयः
योभूयेत श्रियाढ्यः सुगुरुजलनिधिः सूरिर्नीराश्रयेषु ॥ १ ॥

संसारसरसीसूर उरूराः सरसोरिसः ।
रसासारो रिरंसोऽरं सूरिः सूरिसु साररः ॥ २ ॥

(द्विव्यञ्जनः ।)

सत्कल्याणधरः सुरागमधुरस्तारोदयानुत्तरः
सद्रत्नोपलसद्विभूतिरुचिरो गौरश्रिया भास्वरः ।

शश्वद्धीरतरः स्फुरद्वसुभरः सत्सौमनस्योद्धरः
जीयाच्छ्रीजिनभद्रसूरिसुगुरुः सर्वंसहायां चिरम् ॥ ३ ॥

सद्भिः सुवंशजातैः संश्रितपादो वरेण्यशाखीव ।
सद्भिः सुवंशजातैः संश्रितपादो गुरुर्जीयात् ॥ ४ ॥

विहाय पङ्कोच्चयमुत्सृतानां सद्वासनाश्रीसमधिष्ठितानाम् ।
प्रबोधनायार्यमनोऽम्बुजानां प्रकल्पते यद्वचनं रविश्च ॥ ५ ॥

यन्मूर्तिवत्प्रीतिकरी सरस्वती सरस्वतीवन्मधुरा गुणावली ।
गुणावलीवद्विपुला मनीषा नन्दन्तु ते पूज्यतमा जगत्याम् ॥ ६ ॥

(रसनोपमा ।)

रोगोरुगोरुगारीरिगौराङ्गगुरुरुग्गुरुः ।
आगोगागारिरागारंगिरांगोगेरिगो गुरुः ॥ ७ ॥

(द्विव्यञ्जनश्लोकः ।)

ध्यानध्यानधुतापदो घनतमःसम्भेदने साधवो
विश्वेनाञ्चितसत्पदो भवभिदो रङ्गन्महाभानवः ।
चेतोहृद्गुणसम्पदो जनमतोत्सृष्टौ सुरोर्वीरुहः
कल्याणं ददतां सतां गुरुरसावन्येऽपि चानारतम् ॥ ८ ॥

(महाद्भुतम् । प्रथमैकवचनवहुवचनाभ्यांव्याख्येयं विद्वद्भिः ।)

जीयासुर्गुरवोऽवन्यां वन्यामिवावनीरुहाः ।
यमासृत्य चयं याति विद्याव्रततातिसन्ततिः ॥ ९ ॥

(गुरुवर्णनम् ।)

विशां हि सेव्याः सरसारवावरा विश्वाविहायोहरयः सुसंवराः ।
साहस्यसाराः सलयाः सुसूरयः साराश्रियो वैरविशारसूरयः ॥ १ ॥

(पञ्चवर्गपरिहारेण छत्रबन्धः ।)

वर्णनीययशोराशिवरो विततलोचनः ।
वरदो मम सम्भूयाद् वर्यस्तारखो गुरुः ॥ १ ॥
(स्वस्तिकबन्धने काव्यम् ।)

आलवालतुलं येषामभिधानं स्थिरीकृतौ ।
ललल्लक्ष्मीमहाकारस्करस्यारं निरन्तरम् ॥ १ ॥
(चामरबन्धः ।)

प्रीतिस्फीतिवर्त्ति येषां प्रशस्याऽऽस्यशशी नयेत् ।
सुसाधुजनताचेतःश्रोतःकान्तं ततं स्मितम् ॥ २ ॥
(चामरः ।)

एवं पूज्यगुणोद्गानविधानमुखराननः ।
श्रीजिनभद्रसूरीन्द्रान् वन्दते सोमकुञ्जरः ॥ १ ॥

दोपञ्चहस्तीन्द्रसुरेशकुञ्जराः सन्मानसाम्भोनिधिशर्वरीवराः ।
भूयो गुणश्रेणिहिरण्यमन्दिरं जयन्ति ते श्रीगुरवो निरन्तरम् ॥१॥
विद्यावलीवल्लिवरेण्यमण्डपं कृपापयोधारणविस्फुरान्निपम् ।
वचश्चयैराञ्चितसर्वविष्टपं गुरुं स्तुवे पादनतोरुभूमिपम् ॥ २ ॥
गुणालिताराधरणान्तरिक्षं विध्वस्तसम्मोहमहाविपक्षम् ।
नीरन्ध्रदोपोत्करभेददक्षं गुरुं स्तुवेऽहं सुयशोवलक्षम् ॥ ३ ॥

यच्छति स्फीतिसन्तोषं यद्भारती सभासदम् ।
यथाम्भौदपयोधारा राजत्सारङ्गसन्ततेः ॥ १ ॥
(आसनबन्धेन वृत्तम् ।)

नरकसंहरणे कमलाधवः सदवनीनलिनीनलिनीधवः ।
कविजनप्रहराशितमीधवः शुचिधियेऽस्तु गुरुर्मधुरारवः ॥ ४ ॥
भुवनमन्दरशैलसुरागमं जिनपशासनभासनसोद्यमम् ।
विमलचेतनयावगतागमं गुरुवरं प्रणुमः सुगुणोत्तमम् ॥ ५ ॥
कल्याणवारांकुरवृद्धिनीरदाः कारुण्यभूयोलहरीलसन्नदाः ।
सुसेवकानां सुतरामभीष्टदा जयन्तु पूज्याः परिणामिसम्मदाः ॥६॥

इत्थं नत्वा गुरूँश्चित्ते सुस्थिरः स्थिरसंयमः ।
श्रीजिनभद्रसूरीशान्नन्नन्ति विनयान्वितः ॥ ७ ॥

तत्रत्यस्य पं०पुण्यमूर्त्तिगणि–पं०लक्ष्मीसुन्दरगणि–पं०मतिविशालगणि–वा०लब्धिविशालगणि–पं०मतिराजगणि–प्रमुखसाधवः, प्र०तपःप्रभागणिनी–प्रवर्हयतिन्यः,सा०गेला–सा०करणा–सा० धणपति–सा० वज्राङ्ग–श्रे० रूपा–भं० गुणराज–सा०आसा–सा० पद्मसिंह–भं०गुणराज–श्रे०हरिराजमुख्या महागारिणः, सौ०गङ्गादे –सौ०सोपू–सौ०जासलदेवी–सौ०पद्मलदेवी–प्राग्रहराः श्रमणसेवकपत्न्यश्च तत्तदनुवन्दनाधर्मलाभमयोचिताशीर्वादकदलीफलप्रदानेन सम्यगानन्दमेदुराः सम्भावनीयाः । तथा श्रीमद्भिः सर्वदापि समुचितशिक्षाप्रेषणे क्षणमप्युपेक्षणीयं न । तथाऽविनयविलसितादि तितिक्षणीयं क्षमाश्रमणप्रवीणैः । तथाऽधुनाऽत्र किमप्यसमञ्जसासमाधिसदृशं नास्ति, तेनात्यन्तं श्रीमतां प्रसादाद्वयं सपरिच्छदा अपि समाहितास्तेष्ठीयामहे ।

अपरं च—

धातुर्विश्वविधाननैपुणमयात्पाणेर्जगद्विश्रुता-
द्विज्ञानातिशयो यदीयवचने कोऽप्यद्भुतो वर्त्तते ।
भाले तेन लिपीकृतां तनुभृतां यन्मौढ्यवर्णावलीं
तत्तत्तत्त्वमहोपदेशसलिलप्लावैः प्रमार्ष्टि क्षणात् ॥ १ ॥
तान् विस्मेरविद्याम्बुजिनीप्रसर्प्पद्यशःपरागैर्मुदितज्ञभृङ्गान् ।
परप्रतीक्ष्यान् जिनभद्रसूरिपादान् प्रणन्नन्ति स मेघराजः ॥२॥
इति लिखितलेखरङ्गत्प्रासादो परिचिरं परिस्फुरतु ।
मम वन्दना पताका श्रीमज्जिनभद्रसूरिभ्यः ॥ ३ ॥

॥ इति विज्ञप्तित्रिवेण्यां ज्येष्ठकल्पविधानाद्यर्थप्रस्ताविका
यमुनाकल्लोलाख्या तृतीया वेणिः ॥



विज्ञप्तिसत्रिवेण्यां सूक्तलसल्लहरिवारहारिण्याम् ।
गुणगृह्यनिपुणमानसवृन्दानि स्नान्तु चिरकालम् ॥ १ ॥
जलधि-वसु-भुवन-सङ्ख्ये वर्षे माघे सिताष्टमीदिवसे ।
रविसुतवारे रुचिरे समर्थितोऽयं महालेखः ॥ २ ॥
यन्न्यूनं यच्चाधिकमसङ्गतं वा यदत्र लिखितं स्यात् ।
तच्छोध्यं धीमद्भिर्यतः सतां रीतिरियमेव ॥ ३ ॥

किं च—

श्रेष्ठिनो नरसिंहस्य तनयो विनयावनिः ।
भोजाख्यः साक्षरः क्षिप्रं प्राञ्जलिः प्रणमत्यसौ ॥ ४ ॥

विशेषस्वरूपावली""ज्ञाप्या निष्पन्नेयं विज्ञप्तित्रिवेणीनामग्रन्थपद्धतिः। संवत् १४८४ वर्षे माघमासि दशम्याम् ॥

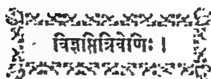
किं च—

द्विवन्दनीकगच्छीयाः श्रीदेवगुप्तसूरयः श्रीसाधुरत्नोपाध्याया वा यदीह स्युस्तदा तेषां विशिष्यास्मदीया प्रतिपत्तिरौचित्येन प्रकाश्येति ॥

शिवमस्तु सर्व्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥ १ ॥

भद्रमस्तु जिनशासनाय । स्वस्ति श्रीसङ्घाय । आयुष्यमस्तु गुणगृह्येभ्यः । समाधिरस्तु स्वयूथ्यानामिति ॥

(ग्रंथाग्रं १०१२)



परिशिष्टसंख्या-१ ।

मुझ मनि लागिय खंति जालंधर देसह भणिय ।
तीरथ वंदण रेसि नगरकोटि तउ आवियउ ॥ १ ॥
बाणगंगा पातालगंग व्याहनइ जसु तडिहिं ।
वणराई घण घाट वाट ति घाटिहिं आगलिय ॥ २ ॥
तहिं माहिमाभंडार पहिलउं पहिलइ जिणभवणि ।
दीठउ संतिजिणिंद नयण अमियरस पारणउं ॥ ३ ॥
जिणहरि बीजइ रीजु मनि अधिकेरउं ऊपजए ।
जहि सोवनमय बिंब रूपचंद रायह तणउं ॥ ४ ॥
जिणि दीठइ संतोसु मण आणंदिहिं ऊससए ।
अंधारइ उद्योत जयउ सुजगगुरु वीरवरु ॥ ५ ॥
जइ त्रीजइ प्रासादि सरवरि राजमराल जिम ।
संभाविउ रिसहेसु चंपाकि चंदनि थुति जालिहिं ॥ ६ ॥
हिव चडियउ चमकंत अति ऊंचइ गढि कांगडए ।
इहु जाणे मइ किद्धु सिद्धिसिला आरोहणउ ॥ ७ ॥
अलजउ अंगि न माइ माइ ताय घरु वीसरिय ।
सरिय सयल मह कज्ज तहिं रिसहेसर दंसाणिहिं ॥ ८ ॥
जो हीमालय हुंत राय सुसर्म्मिहिं जाणियउ ।
नेमिसरि जयवंति कंगड कोटिहिं आणियउ ॥ ९ ॥
चंद्रवंसि जे राय राणी जसु पयतलि लुलइ ।
अंबिकदेवि पसाइ तहिं मनवंछित फल मिलइं ॥ १० ॥

भास ।

कंचणमय कलसिहिं सहिय ए च्यारइ प्रासाद ।

च्यारइ चिहुं वरणिहिं नमिय च्यारइ हरइं विषाद ।
गोपाचलपुर सिरिमउड संतिनाह जगसामि ।
कामियफल कारणि रसिय लीणउ छउं तसु नामि ॥ ११ ॥
नंदवणिहिं नंदउ सुचिरु चरमजिणेसर चंद ।
जग चकोरु जसु दंसणिहिं पामइ परमाणंद ।
पास पसंसउ कोटिलए गामिहिं महि अभिरामि ।
मह मन कोइलि जिम रमउ तस गुण अंबारामि ॥ १२ ॥
हेमकुंभ सिरिजिणभवणि ए सवि थुणिया देव ।
देवालइ कोठिनयरि करउं वीरजिण सेव ।
दुक्खह दिन्नु जलंजलिय सुखह उद्धु पसारु ।
तीरथ पंचइ जइ नमिय पामिय मोख दुयार ॥ १३ ॥
मंगल तीरथ पंथियह मंगल तीरथ पंथ ।
■ सुखेहिं किर मइं कलिय मुकतिनारिसीमंथ ।
नारि अच्छइ घरि घरि घणिय जणणी सा परु धन्न ।
जासु कुक्खि उप्पन्न नरु संचइ तीरथ पुन्नु ॥ १४ ॥
इय जयसायर समरिय ताय सवालखपव्वय जिणराय ।
ता अम्हारिय पूगी आस हउं बोलउं जिणसासण दास ॥ १५ ॥
इणि समरणि नासइ नरग जोग इणि समरणि लाभइ सरग मोग ।
इणि कारणि तुम्हि भो भविय आज इहु पभणहु, निसुणहु, सरइं काज ॥
इय नगरकोट पमुक्ख ठाणिहिं जे य जिण मइं वंदिया ।
ते वीर लउंकड देवि जालामुखिय मन्नइ वंदिया ॥
अन्नेवि जे केवि सग्गि महियलि नागलोइहि संठिया ।
करजोडि ते सवि अज्ज वंदउं फुरउ रिद्धि अचिंतिया ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीनगरकोट्ट-महातीर्थ-चैत्यपरिपाटी ॥

॥ कृतिरियं श्रीजयसागरोपाध्यायानाम् ॥

परिशिष्टसंख्या-२ ।

—— *०* ——

मनोरंगि मइं आपणइ वुद्धि पामी ज जाणउं फिरी वंदियइं भुवणसामी ।
त आणंदि जे वंदिया भावसारं वली ते जिणे वंदिमो वारवारं ॥ १ ॥
पुरे पाटणे मूळजिणरायपाया थुणीनइ हणउं मोहमदमदनमाया ।
वडह्लीपुरे पासपहु अमियमीठउ परं रायपुरि संतिजिणदेव दीठउ ॥२॥

भास ।

महिमंडली सुमहंति महसाणइ महिमा घणिय ।
आदिल पासजिणिंद संतिनाह मइं तहिं थुणिय ॥ ३ ॥
कुंयरगिरिहिं सिरिसंति संति पास सलखणपुरिहिं ।
पासजिणेसर संति ध्यायउं धंधूकई पुरिहिं ॥ ४ ॥
परमाणंद अपार वार वार मन ऊल्हसिय ।
चडियउ सेत्रुजासिंगि रिसह संगितहिं ऊससिय ॥ ५ ॥
रायणितलि प्रभु पाय त्रिणि प्रदक्खिण देइ करे ।
पणमिय सल्लोद्धार करउं विमलगिरिवरसिहरे ॥ ६ ॥
समकत अंगीकार सार पंचव्रत ऊचरिसु ।
सिद्धखेत्रि सुप्रसंगि हउं आपणपउं ऊधरिसु ॥ ७ ॥
तां तम तां संताप तां चिंता तां कुगतिभिय ।
नहुं समरउं सेत्रूज जाम देवभवाणिहिं सहिय ॥ ८ ॥

भास ।

वीरह ए वंदण रेसि पालियताणइ आवियउ ।

तलाऊज्झंए पुरिसं तीस पासनाह मनि मावियउ ॥ ९ ॥
दाठइ ए दीठउ पास महावीर महुए महिय।
पासज ए घृतकल्लोल मेलिगपुरि मेलिहिं लहिय ॥ १० ॥
अजाहरि ए वामाजाय दीवि पास अनु वीर मुहु।
ऊनइ ए पुरवरि संति कोडियनारिहिं नेमिपहु ॥ ११ ॥
देवकइ ए पाटणि देव चंदप्पह विंहु ठाणि ठिय।
श्रीजइ ए भवणि जिण नेमि, चोरियवाडइ पास पिय ॥ १२ ॥

घात।

वीर वेला वीरवेलाउलिहिं पणमेवि।
नवपल्लव मंगलपुरिहिं पासनाह रिसहेस जिणवर।
जूनइगढि मढि नव नवइ रिसह पासजिण वीर दिणयर ॥
हिव गिरनारिहिं गरुयर सिहरं चाडियउ चमकंत।
जहिं मनसउं मइं दिक्खिवउ रावलदेवीकंत ॥ १३ ॥
नेमि मइं पणमिउ नेमि मइं पूहउ नेमि मइं संथुउ सरियकाज।
सुकृतभंडार भर भरियअइ सुम्भरो करिय मइं विमल निज जनम आज॥
अह चिय पूगिय मनह जगीस नेमिभवणि गिरनारशृंगि।
गाइसो वाइसो नाचिसो रंगि देइसो दान मन उच्छरंगि ॥ १५ ॥
वस्तिगवसहिहिं आदिजिणेसरो कल्याण त्रइ नेमिपहु।
श्रीगिरनारिहिं अवर जे केवि तेवि हउं वंदिसो देव बहु ॥ १६ ॥

घात।

सुजसधवलिहिं सुजसधवलिहिं पासजगनाह।
वलदाणइ पासपहु संतिनाह चूडेवणी पुरि।

देदाणइ रिसहजिण आदिनाह ऊपल्लियासरि ॥
वीरमगामिहिं वीरवरु वीजउ संतिजिणिंद ।
अचिरानंदण भो जुयइ वंदह लवणिमकंद ॥ १७ ॥
मंडलि सीतापुर वरि वीर वग्धाडइ सिरिआदिल धीर ।
पाटरियइं पहु पास जु संति गोरइइं सिरि रिसह नमंति ॥ १८ ॥
संतिजिणेसर डहियरवाडइ संति पास दुइ झंझूवाडइ ।
हांसलपुरवरि सीतलदेव सारउं नितु नितु हउं तसु सेव ॥ १९ ॥
जे मइं चउद सत्थासिय वरसिंहिं जिणवर वंदिय गरुयइ हरासिंहिं ।
नितु नितु ते मन भाविहिं वंदउं सुख समाधिहिं ता चिरु नंदउं ॥२०॥
इय दोसनासण पयडसासण सुहपयासण केविया ।
बहुठाणसंठिय देवजिणवइ भावभत्तिहिं सेविया ।
ते आज चहुविअ संघ मंगल रंग दाण समग्गला ।
मह दिंतु निव्वुइ सुजइसायर वोधिलाभ समुज्जला ॥ २१ ॥

॥ इतिश्रीचैत्यपरिपाटी समाप्ता ।
॥ कृतिरियं खरतरश्रीजयसागरोपाध्यायानाम् ॥

शुद्धिपत्रम् ।



विज्ञप्ति त्रिवेणि के प्रुफ-संशोधनमें, कुछ जल्दी हो जानेके कारण कितनेक स्थल अशुद्ध छप गये हैं। पाठक उन्हें, इस शुद्धिपत्रके अनुसार शुद्ध कर पढें।

पृष्ठम्.	पङ्क्तिः	अशुद्धम्.	शुद्धम्.
२	२१	-कौसुता-	-कौमुता-
३	१५	स्वभूर्भुवः	स्वर्भूर्भुवः
५	८	स्फुटाः	स्फटाः
६	२३	'स्याद्येन'	'स्याद्येन'
७	४	-सम्यत्वा-	-समात्त्या,
७	१६	-स्वभावरम-	-स्वभावात्म-
८	६	मूवि	भुवि
९	२	-सुरि-	-सूरि-
९	४	-प्पान-	-प्यान-
९	१४	-सुचि-	-शुचि-
१०	७	-दाशयाः	-दाशया
१०	११	सङ्कृता	संस्कृता
१०	१४	-ऽऽशैव	-ऽऽशेव
१०	१५	तु	नु
१२	११	शक्तिपुटं	शुक्तिपुटं
१४	११	-तुरङ्ग-	-तुङ्ग-
१४	१२	सदाऽमल-	सदामल-
१५	४	मासिवसतौ	मासि.वसतौ
१६	६	-भूमिप्रास-	-भूमि प्रास-
१६	२१	वरिवर्त्ता	वरिवर्त्ति
१७	३	सर्वांश्रपि	सर्वानपि
१७	४	गुर्वैश्वापि	गुरूंश्चापि
१८	१४	-वर्णाक्षर-	-वर्णो क्षर-
१८	१९	-पुष्टि-	-पुष्टी-
१९	३	वेडाक्ष्टेन	वेडा कष्टेन
१९	९	-दासी_त्कि-	-दासीत्कि-
१९	१२	मुदाकर-	मुदा कर-
२०	४	-पूनमु-	-पून्मु-
२०	१६	-विद्न्ति-	-विदन्ति-
२०	२२	धर्म्येंसु	धर्म्येषु
२१	७	-विशिष्ठ-	-विशिष्ट-
२३	१०	सुधाः	बुधः
२३	१२	वैद्रेष्टं	वैरेष्टं
२३	१९	तैर्दष्टव्यं	तैर्द्रष्टव्यं
२३	१७	महात्म्यं	माहात्म्यं
२३	१८	-द्धन्यं म-	-द्धन्यंम-
२३	१९	-र्वन्तुः	र्वन्तु
२३	२०	-नस्तिप-	-नस्ति प-
२३	२३	तत्ताद्दगमि-	तत्ताद्दग्गिम-
२४	६	-मनः पूर्वा-	-मनःपूर्वा-
२४	१२	-मासदम्	-मास्सदम्
२४	२२	तत्स-	तत्तत्स-
२५	१९	समुद्दरम्	समुद्दरम्
२६	३	पद्धत्त्य-	पद्धत्य-
२६	९	-स्तद्रूनति-	-स्तदुन्नति-
२७	३	-प्रणीनंस-	-प्र.णिनंस-
२८	९	सानिध्य-	सान्निध्य-
३०	१२	-पूर्वीनिर्म-	-पूर्वा निर्म-

पृष्ठम्.	पङ्क्तिः	अशुद्धम्.	शुद्धम्.
३०	२२	एवुं	एवं
३०	२३	स	सः
३१	८	-वांस	-वांसः
३१	१८	ततश्चविपा-	ततश्च विपा-
३३	१९	क्वापिकुमु-	क्वापि कुमु-
३५	५	-स्त्रिग्राम्या-	-स्त्रिर्ग्राम्या-
३५	२०	-स्थानाम-	-स्थानम-
३५	२२	त्मलि महा-	-त्मलिमहा-
३६	२	-योद्दूपित-	-योद्धुपित-
३६	४	-धूरीणस्य	धुरीणस्य-
३७	१२	-वाह्यैः	वाह्यै
३७	२२	कदाचन्	कदाचन
४०	१६	-ज्ञान्यअ-	-ज्ञान्य-
४१	१८	-नवैस्त-	-नवैः स्त-
४२	४	प्रमदा-	प्रमादा-
४२	२३	-वर्णयन्ति-	-वर्णयान्ति
४३	२२	स्वाद्वाय-	स्याद्वाय-
४४	७	तान्पङ्क !	तान्यपङ्क !
४६	१२	श्लाघे	श्लाघ्ये
४६	१५	-ऽस्तुवः	-ऽस्तु वः
४६	२४	नरपतेऽम्बु-	नरपते । तेऽम्बु-
४७	१९	कोपी	कोऽपि
४८	२२	पुरःकोऽहं	पुरः कोऽहं
४८	२३	वराकः	वराकः
४९	२०	द्रष्टृ	द्रष्टृ
५२	१०	गिरिभूवि	गिरिभुवि
५४	११	-नुलङ्घ-	-नुलङ्घ-
५४	१७	-द्ररसज्ञ-	-द्रसज्ञ-
५५	१३	सत्यरूचि-	सत्यरुचि-
५५	१४	-श्चतुर्मांसीं	-श्चतुर्मासीं
५५	१५	-सीदीति	सीदिति
५५	१८	समुल्ङ्घ-	समुल्लङ्घ-
५५	२१	-दाल्हाद-	-दाह्लाद-
५७	१३	सघान्तरे	सङ्घान्तरे-
५७	१४	-प्यतिरिच्यत	-प्यत्यरिच्यत
५७	२३	निखिलज।	निखिलज-
५७	२४	इति	इति ।
५८	१४	श्छलात्	*छलात्
५८	१९	गुरुबान्धवाः	गुरुबान्धवः
५९	२४	स्तु हिशा-	स्तुहिशा-
६०	९	-वासः।	-वास ।
६०	१०	वाऽस्माभिः	चाऽस्माभिः
६०	१०	-यिपत्	यिपत ।
६०	१२	-पटिमास्त्रा	पटिमा स्त्रा-
६०	१४	रुपास्थि-	रुपस्थि-
६०	१५	श्राद्धेका	श्राद्धैका
६०	१६	श्रीपूजेभ्यः	श्रीपूज्येभ्यः
६०	२०	चतुर्विशति,	चतुर्विंशतिः,
६०	२०	-ताश्चत्रयः,	-ताश्च त्रयः,
६०	२४	ताम्बुला-	ताम्बूला-
६१	३	प्रल्हाद-	प्रह्लाद-
६१	८	-सत्यरूचि-	-सत्यरुचि-
६२	१९	यमासत्य	यमाश्रित्य
६३	३	-वन्धने	-वन्धेन
६३	१५	-चयैराज्ञि-	-चयै राज्ञि-
६३	१९	यत्राम्भौद-	यत्राम्भोद-
६४	२१	सादो परिचिरं	सादोपरि चिरं